SANDARBH BARGI

G. K. U.

दिसम्बर

१९७७

असमिया साहित्य अंक

भारतीय भाषा परिषद् के उद्देश्य

- भारतीय भाषाओं में पारस्परिक सहयोग-सौहार्द ।
- भारतीय भाषा-साहित्य की विलुप्त राशि की खोज और शोध।
- विशिष्ट विषयों पर भारतीय विद्वानों की वक्तृताएँ और उनका प्रकाशन ।
- भारतीय भाषाओं के मौलिक एवं अनूदित ग्रन्थों का प्रकाशन।
- भारतीय भाषाओं और अन्तरराष्ट्रीय महत्व के संदर्भ ग्रन्थों का अनुवाद ।
- उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पत्रिका-प्रकाशन ।
- उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रेक्षागार, संदर्भ पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन विभाग, शोधकर्त्ताओं एवं साहित्यकारों के लिये शोधकक्षों और साहित्यकार-आवास की व्यवस्था ।

●

पत्राचार के लिए :— संपादक, संदर्भ भारती, भारतीय भाषा परिषद
९, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००१७
दूरभाष : ४३-२४१८

सर्व भाषा सरस्वती
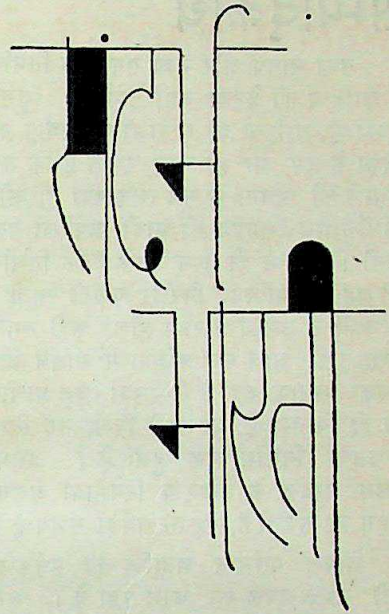
वर्ष ३ : अंक ६

दिसम्बर १९७७

असमिया साहित्य अंक

संपादक : डॉ० बीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य

द्वैमासिक पत्रिका

वार्षिक : १२.००

एक अंक : २.००

भारतीय भाषा परिषद

९ कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-१७

सम्पादकीय

नव्य मानव और नव्य समाज के निर्माण में साहित्य की प्रेरणा अपरिहार्य है। दूसरे शब्दों में, साहित्य की धाराओं के प्रवाह की दिशा से हम यह भी जान सकते हैं कि नए समाज की रचना के मूल तत्व क्या हैं, और निर्माणशील समाज की भावी रूपरेखा क्या होगी। सहज ही प्रश्न उठते हैं कि निर्माण की यह प्रक्रिया क्या निरंतर चलती रहती है या कहीं से उसका प्रारम्भ होकर कहीं समाप्त होता है? आज उस प्रक्रिया में मानव और उसका समाज कहाँ है? - क्या वह प्राचीन का ही विस्तार है, या कहीं किसी नए बिन्दु से उसका निर्माण शुरू हुआ है? अलग-अलग समाज के लिए ये स्थितियाँ अलग-अलग हो सकती हैं, यह तो सर्वथा संभव है!

लेकिन वर्तमान शताब्दि का पूर्वकाल बड़ी उथल-पुथल का काल रहा है। रूस में क्रांति हो गई, दो-दो विश्वयुद्ध हो गए। साम्राज्यवाद नष्ट हो गया, उपनिवेशवाद के दिन लद गए। राज्यतंत्र का स्थान प्रजातंत्र ने हथिया लिया। ईश्वर की केन्द्रीय भूमिका में मनुष्य समासीन हो गया। आस्थाएँ हिल उठीं, मूल्य बदलने लग गए। मनुष्य ने अणु के गर्भ को बेध लिया और अपना वामन का पैर बढ़ाकर अन्तरिक्ष के पहले पड़ाव चन्द्र के माथे को नाप लिया। उद्योगों की होड़ में प्रविधि ने कमाल किया, संचार-साधनों ने दूरियाँ सिमटा लीं। मनुष्य-मनुष्य के बीच की खाइयाँ पट गईं। सचमुच मानों एक नया विश्व सामने आ गया एक चुनौती लेकर, लो मुझे गढ़ो, जैसा तुम्हारा मन चाहे। मैंने अपना प्राचीन सब कुछ धो दिया है।

भारतवर्ष में भी यह स्थिति आनी थी खासकर आजादी के बाद और शताब्दि के प्रारम्भ में शुरू हुई वैश्विक-परिवर्त्तन की प्रक्रिया के ही अंग के रूप में, अलग-थलग कट कर नहीं। इस पवित्र्तन के मूल में साहित्य था या इस परिवर्त्तन के फलस्वरूप साहित्य को यह रूप प्राप्त हुआ है, यह बहस का विषय हो सकता है। सच तो, साहित्य और जीवन में इतना अलगाव कहाँ है कि एक निश्चित रूप से कारण हो, और दूसरा कार्य! दोनों हाथ में हाथ दिए चलते हैं, कदम से कदम मिलाते हुए।

साहित्य के इसी महत्व की पृष्ठ भूमि में स्वातन्त्र्योत्तर असमिया-साहित्य के प्रस्तुत अंक को देखना और भारत की अन्य भाषाओं क तत्कालीन साहित्य के साथ तुलनात्मक दृष्टि से परखना हितकर होगा।

अपने अग्रलेख 'प्रसंगतः' में इस अंक के प्रगतिशील प्रबुद्ध संपादक डॉ० बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य इसी प्रसंग को लेकर चले हैं, और निष्कर्ष के रूप में उन्होंने ध्यातव्य-तथ्य पाया है साहित्य में रस सृष्टि और सृष्टितत्व विषयक अन्तिम दार्शनिक प्रश्न का उत्थापन। डॉ० बीरेन्द्र कुमार असमिया साहित्य के कृतविद्य लेखक ही नहीं, एक प्रेरक साहित्यकार भी हैं। उनके संपादन में प्रकाशित 'रामधेनु' मासिक पत्र असमिया साहित्य में नव-युग का प्रवर्त्तक माना जाता है, और सचही अनेक नए लेखकों ने उससे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त किया है। उन्होंने इस पत्र के माध्यम से असमिया साहित्य से स्वच्छन्दतावाद को निष्कासित कर दिया है। वे एक ही साथ कवि, कथाकार, उपन्यासकार और निबंध लेखक हैं; और 'नवन्यास', नई कविता के शक्ति स्तंभ हैं। साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत उनका उपन्यास 'इयारुइंगम', नागा-भाषा में जिसका अर्थ 'जनता का राज्य' होता है, नगालैण्ड से जापानियों के प्रत्यावर्त्तन के बाद के तांगखुल नगाओं की कहानी है। इस उपन्यास का एक अंश प्रस्तुत अंक में आगे जा रहा है।

हम डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, उनके अन्य साथी लेखक, कवि और अनुवादकों को हार्दिक धन्यवाद देते हुए यह विश्वास प्रकट करते हैं कि भविष्य में भी वे इसी प्रकार सक्रिय सहयोग देते रहेंगे।

इस अंक के साथ, वर्ष के प्रारम्भ से शुरू विभिन्न भाषाओं के स्वातंत्र्योत्तर सर्जनात्मक साहित्य के परिचय-चक्र की एक चाप पूर्ण हुई। अबतक छह भाषाओं के साहित्य की — गुजराती, बंगला, हिन्दी, कन्नड़, मराठी और असमिया साहित्य की विभिन्न विधाओं और प्रवृत्तियों का आकलन संदर्भ भारती कर चुकी है। अगले वर्ष से हम इस चक्र की दूसरी चाप भी पूरी करने का प्रयत्न करेंगे। हमें सतोष और प्रसन्नता है कि विद्वानों और पाठकों में सर्वत्र इसका स्वागत हुआ है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी विद्वान साहित्यकार और पाठक हमें इसी तरह सहयोग और उत्साह देते रहेंगे।

स० ओझा

प्रसंगतः / डॉ. बीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य

आधुनिक असमिया साहित्य प्रधानतः मध्यस्तरीय साहित्य है। स्वातंत्र्योत्तर काल में इसका यथेष्ट विकास हुआ है। उपन्यास कहानी, कविता, नाटक, निबन्ध इत्यादि के क्षेत्र में इसने उल्लेखनीय प्रगति की है। पंचम दशक के असमिया साहित्य के सर्वतोमुखी विकास में 'रामधेनु' मासिक पत्रिका का पर्याप्त योगदान रहा है। इस पत्रिका ने समसामयिक साहित्यकारों को बहुविध प्रेरित प्रोत्साहित किया। पत्रिका के सम्पादक के नाते मुझे अनेक नवीन लेखकों को साहित्य-सृजन के लिये प्रेरित करने एवं उन्हें प्रकाश में लाने का गौरव प्राप्त है। निस्सन्देह आज के अनेक प्रतिष्ठित लेखक 'रामधेनु' की ही देन हैं। पिछले पन्द्रह-सोलह वर्षों में असमिया-साहित्य में वैचारिक द्वन्द्व अनेक रूपों में उभरता-पनपता दिखायी पड़ा है। वैचारिक द्वन्द्व और संघर्ष ने विभिन्न विधाओं के लेखकों को आज साहित्य और साहित्य दर्शन विषयक विभिन्न विचार-सरणियों के आलोड़न के लिए बाध्य कर दिया है। चिन्तनगत परिणाम और विचारगत द्वन्द्व प्रायः सभी विधाओं में आज स्पष्टतः लक्षित होता है। साहित्य-सृजन की आवश्यकता और उसके आस्वादन की प्रक्रिया के विषय में भी आज साहित्यकारों और आलोचकों में वैमत्य दिखाई पड़ता है। यहाँ सबके विचारों का न तो समाहार करना संभव है और न वैसा उद्देश्य ही है। फिर भी दो आधुनिक प्रतिनिधि चिन्तक कलाकारों से आवश्यक उद्धरण रखे जाएँगे।

मैं स्वयं भी एक लेखक हूँ। अस्तु, असंभव नहीं कि अन्य लेखकों के बारे में मेरी मान्यताएँ सर्वस्वकृति हों ही। हाँ, मेरी धारणा सतत् विकासमान रही है अवश्य। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे समसामयिक लेखकों ने युग सापेक्ष्य मानदण्ड के अनुकूल काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि के रूप में जो भी सृजनात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे विविध प्रकारेण प्रशंसनीय तो हैं, पर यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि अभी तक हमारा कोई भी लेखक ऐसी अद्वितीय रचना नहीं प्रस्तुत कर सका है जिसमें कोई विशिष्ट 'विश्ववीक्षा' प्रस्फुटित हुई हो। मेरा तात्पर्य वैसी 'विश्ववीक्षा' से है जो मानव को सतत सुविमल प्रगति-पथ का संधान दे सकें।

साहित्य में मात्र विधागत नवीनता अथवा कलागत आकर्षण ही सर्वस्व नहीं होता। नव्य मानव और नव्य समाज के निर्माण हेतु आज जो संग्राम चल रहा है उसके लिए साहित्य की प्रेरणा अपरिहार्य है। असमिया के आधुनिक साहित्यकारों में इस विषय पर भी वैमत्य है। यहाँ हम मात्र दो प्रतिनिधि आधुनिक लेखकों के मत उद्धृत कर रहे हैं।

१. "वर्त्तमान बुर्जुवा सभ्यता में बुर्जुवा और बुर्जुवा प्रभाव को आयत्त करने के लिए प्रतीकवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। प्रतीकवाद की यह धारणा है कि कल्पना सर्वजयी है और ऐतिहासिक यथार्थ पर अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं है। मात्र योग्य और समर्थ भाषा के द्वारा ही यथार्थ की सभी त्रुटियों को नजर अन्दाज कर कल्पना का मनोराज्य निर्मित किया जा सकता है। प्रतीकवाद इस पर ध्यान नहीं देता कि यथार्थ में जो त्रुटि रह जाती है, ठीक वही स्थिति परिवर्तन की भी होती है। वस्तुतः ऐतिहासिक यथार्थ को रूपायित करने के लिए व्यावहारिक कल्पना आवश्यक है। ऐतिहासिक यथार्थ की पृष्ठभूमि में साहित्य को विश्लेषित करने वाले योग्य विवेचक और पाठक ही हैं। एवं उसी प्रकार वे ही हमारे जीवन के कल्पनातीत रूप को प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् साहित्य में अंकित यथार्थ का अध्ययन ही उसका यथार्थपरक वा प्रकृत अध्ययन हैं। मात्र सांख्यिकी द्वारा यथार्थ को जानना असंभव है। इसके लिए यथार्थवादी कल्पना और पैनी दृष्टि आवश्यक है। साहित्य में वैसी ही कल्पना और अन्तर्दृष्टि

की प्रतिश्रुति होती है। अनुभूतिप्रधान साहित्य की अनुभूतियाँ भी आन्तरिक ज्ञान के अभाव में निस्तेज हो जाती हैं।''

—(डॉ. हीरेन गुहाईं)

२. ''संगीत, कविता, प्रेम इत्यादि के महत्व या अस्तित्व के रहस्य से वही आप्लावित होता है जिसका मन तर्क-छिद्रों से छलनी नहीं हो गया है। संगीतादि का परित्याग कर देने पर मानव मात्र तर्क-बुद्धि से परिचालित यंत्र-स्वरूप हो जाएगा। वह अधूरा रह जाएगा। यह अंश (रागात्मकता) कभी आपत्तिजनक भी हो सकता है। वैसी स्थिति में मनुष्य की तर्क-शक्ति को वह विपर्यस्त भी कर सकता है। पर जैसे नृशंस नर-हत्या करने के कारण दण्डस्वरूप हत्यारे के हाथ काट डालने की बात कहना अनुचित है, वैसे ही मानव मन की तार्किकता के असंगत अंश को भी विपज्जनक मानकर सर्वथा त्याज्य घोषित कर देना असंगत है। इस अंश में ही जीवन का रहस्य-बोध, पावित्र्य-बोध, सुख-दुख, हर्ष-विषाद अर्थात् जीवन की सार्थकता निहित होती है। ऐसे तार्किक यानी कुतर्की ही जीवन-विरोधी, सरस जीवन के विरोधी और निरर्थक वा अरसिक होते हैं। जीवन के इस अंश का महत्त्व वैसे लोग ही नहीं स्वीकारते हैं जो थोथे युक्तिवाद के चक्कर में विधायक भावात्मकता को भी सम्मानजनक स्थान नहीं देना चाहते। संगीत, कला और साहित्य के प्रकृत अर्थ ग्रहण और मूल्य केन्द्रित आत्मज्ञानमूलक दर्शन के प्रकृत मूल्यांकन की चरम उपलब्धि के लिए भी यह सर्वथा त्याज्य नहीं हो सकता। जीवन और जगत् को यह कुछ ऐसे अर्थ प्रदान करने के लिए मनुष्य को अनुप्राणित करता आया है जो केवल तर्काश्रित विचार में मूल्यहीन हो जाता है। संगीत, कला, साहित्य और आत्मज्ञान-मूलक दर्शन की कोरी युक्तिवादी व्याख्या निर्मूल नहीं हो सकती। दूसरी ओर अयुक्तिवादियों ने भी इस अंश की प्रेरणा को ही सभी क्षेत्रों में लागू करने की भूल की है। विश्व तथा जीवन की सृष्टि के मूल में ऐश्वरिक या आधिभौतिक शक्ति की कल्पना भी वैसे ही अयुक्तिवादी चिन्तन का परिणाम है। यह कल्पना यदि कल्पना ही बनी रहे अर्थात् कलागत या साहित्यिक चरित्र से सम्पन्न होकर ही रहे, तो तर्क-विरोधी नहीं है। किन्तु जब इसे तथ्यतः स्थापित और प्रमाणित करने के प्रयास होते हैं, तभी अयुक्तिवादिता स्पष्ट हो उठती है। यही कारण है कि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करनेवाले लोग भी 'बरगीत' या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के गीतों को पढ़-सुनकर अनुप्राणित हुए बिना नहीं रहते। आधुनिक युक्तिवाद के आधार पर ग्राह्य और विवेचित न होनेवाले ग्रीक नाटककारों या शेक्सपीयर की रचनाओं तथा रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' को मूल्यहीन कहकर आलोचित-विवेचित किये जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।''

—(भवेन बरुवा)

ऊपर उद्धृत दोनों दृष्टियों में आपाततः विरोध दीखता है, किन्तु इनमें ध्यातव्य है साहित्य में रस-सृष्टि और सृष्टितत्त्व विषयक अन्तिम दार्शनिक प्रश्न का उत्थापन। भवानन्द दत्त ने अपने ग्रन्थ 'दृष्टि और दर्शन' में युक्ति और युक्ति-निरपेक्षता अथवा तर्कातीत उपलब्धि के समन्वय-दर्शन को आवश्यक माना है। असमिया साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा पहलीबार हीरेन गोहाईं की वितर्कमूलक रचनाओं में ही परिलक्षित हुई है। इसके विपरीत भवेन बरुवा की रचनाओं में दार्शनिक जटिलता एवं मानवीय बौद्धिकता के भाव अधिक स्पष्ट हो सके हैं।

आधुनिक कविता की प्रारम्भिक अवस्था में ही वस्तुवादी विद्रोही चिन्तन की लहर हेम बरुवा और अमूल्य बरुवा में दिखाई पड़ी थी। मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण वह विद्रोही चिन्ताधारा एक बार पुनः आज लौट आयी-सी प्रतीत होती है। यह और बात है कि आज उसमें पहले जैसे कौमार्य का अभाव हो गया है। यों, अधिकांश कवि वैयक्तिकता के विश्वासी दीखते हैं—सर्वथा व्यक्तिगत भाव ही उनमें हिलोरें लेता प्रतीत होता है, तभी उनमें दार्शनिक चिन्तन का वैविध्य और पैनापन नहीं है। कविता में रूपात्मक परिवर्तन अवश्य हुए हैं जिनकी परिणति सूक्ष्म शिल्प चेतना में पूर्णतः गोचर होती है। यह बात अजित बरुवा, भवेन बरुवा और नीलमणि फुकन की कविता पर विशेष रूप में लागू होती है। कविता क्या है, इस सम्बन्ध में अन्तिम उत्तर देना शायद असंभव है। यही कारण है कि

असमिया की वैसी भाव-प्रवण कविताएँ भी जिनमें बौद्धिक चेतना की अपरिपक्वता मिलती है, लोकप्रिय हैं। शैलीगत नवीनता की दृष्टि से नवकान्त बरुवा की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। उनकी सम्यक चिन्तन प्रधान कविताएँ अनुभूति प्रवणता की दृष्टि से उत्तम बनी हैं एवं पाठकों के लिए वे सहज ही ग्राह्य भी हैं।

कहानी के क्षेत्र में जिन लेखकों ने ख्याति प्राप्त की है, उन सबका यहां उल्लेख संभव नहीं है। मानव जीवन की किसी परिस्थिति विशेष के यथातथ्य अंकन की दृष्टि से महिम बए, भवेन शइकीया, क्ष्लमीनन्दन बए इत्यादि की कहानियाँ अधिक योग्य बन सकी हैं। सौरभ चलिहा ने अपनी कहानियों में अर्द्ध-चेतन मन की छवियों के अंकन में अधिक विशिष्टता अर्जित की है। मानव-मन की नवीनता की तलाश होमेन बरगोहाईं और नीलिमा शर्मा की कहानियों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सामाजिक चेतना के रूपायन की दृष्टि से बीरेन भट्ट और शीलभद्र की एवं रोमाण्टिक-मानस के उद्वेलन की दृष्टि से अब्दुल मालिक की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। कहानीकारों की ये विशेषताएँ उनकी वैयक्तिक विशिष्टता की सूचना भर हैं। इस युग की कतियम अच्छी कृतियों में **'सेन्दुर'** (भवेन शइकीया), **'दुपरिया' 'गोलाम'** (सौरभ चलिहा), **'कलपतुवारमृत्यु'** (योगेश दास), **'माकनर गोसाईं'** (वीरेन्द्र-कुमार भट्टाचार्य), **'भय'** (होमेनबरगोहाईं) **'काठनोबारीर घाट'** (महिमबए), **'संग्राम'** (शीलभद्र), **'अंगीकार'** (लक्ष्मीनन्दन बए) इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में उपन्यास-लेखन में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। उपन्यास दो प्रकार के हैं। पहले प्रकार की कोटि में वे उपन्यास आते हैं जिनमें शिल्पसम्मत रूप में समाज का तात्पर्यपूर्ण अंकन हुआ है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों में व्यक्तिमानस का आन्तरिक उद्घाटन होता है। दूसरे प्रकार के उपन्यास अर्थात् जेम्स ज्वायस या वर्जिनिया उल्फ की कृतियों की तरह, असमिया में प्रायः नहीं के बराबर हैं। कोई भी असमिया उपन्यासकार व्यक्ति-मानस को समाज से विच्छिन्न रूप में नहीं देखना चाहता है। हां, समाज को जानने के लिये प्रयास करते समय अधिकांश उपन्यासकार भाव-प्रवणता और रोमाण्टिकता का आँचल ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अब्दुल मालिक वैसे उपन्यासकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाज के यथातथ्य रूप को प्रस्तुत कनेरवालों में बिरिंचिकुमार बरुवा, वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य और होमेन बरगोहाईं के नाम प्रमुख हैं। इन सब लेखकों की दृष्टिभंगी भी सर्वथा भिन्न-भिन्न है। इस युग की प्रमुख औपन्यासिक कृतियों में **'सेउजोपातर काहिनी'** (बिरिंचिकुमार बरुवा) **'इयारुईंगम'**, **'प्रतिपद'** (बीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य), **'पिता-पुत्र'** (होमेन बरगोहाईं) **'ककादेओतार हाड़'** (नवकान्त बरुवा), **'सूरजमुखीर स्वप्न'** (अब्दुल मालिक) इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं।

नाटक की भी दो स्पष्ट धाराएँ हैं। एक है सामाजिक धारा, जिसके अन्तर्गत ही राष्ट्रप्रेम वाली रचनाएँ भी परिगणित की जाएँगी। प्रवीण फुकन, लक्ष्यधर चौधरी दुर्गेश्वर बरठाकुर इत्यादि के नाटक इसी वर्ग के हैं। किन्तु अरुण शर्माके नाटकों में समाज-चित्रण अन्तर्मुखी हो गया है। नाटकों के दो और प्रकार भी प्राप्त होते हैं—यात्रा-भिनय के लिए निर्मित रंगमंचीय नाटक और शहरी मंचों पर अभिनीत होनेवाले पश्चिमी नाटकों के अनुवाद। प्रथम प्रकारके रंग मंचीय नाटक जहाँ मनोरंजनपर अधिक ध्यान देते हैं वहाँ दूसरे प्रकार के मंचीय नाटकों का उद्देश्य सिसृक्षात्मक और बोधात्मक है। नाटकों में अधिक महत्त्व का नाटक **'निवारण भट्टाचार्य'** (अरुण शर्मा) ही कहा जाएगा।

संक्षेप में अत्याधुनिक असमिया के सृजनात्मक साहित्य की यही रूपरेखा है। यों आज सैकड़ों आधुनिक लेखक असमिया साहित्य-भण्डार की बहुमुखी वृद्धि में तत्पर हैं, पर पृष्ठसंख्या की सीमा हम सबका उल्लेख करने में अक्षम रहे हैं। परिणामतः अनेक ख्यातिनाम लेखक भी उल्लिखित नहीं हो सके हैं। इसके लिए हमारी अपनी विवशता है। शायद किसी अन्य वृहद एवं उत्तम संकलन में उनकी यथेच्छ चर्चा कर सकूँगा।

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

इयारुइंगम / डॉ. बीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य

मानव-जीवन क्षणिक विस्मय है—स्फुलिंगवत्; एक क्षण के लिए प्रज्वलित हो अज्ञात अंधकार में विलीन हो जाता है। जीवन बरुवा का जीवन भी वैसा ही था। एक दिन वह गुवाहाटी से आया था नगा के प्रति तीव्र अन्धी ममता लेकर। नगा पहाड़ की एक युवती से विवाहकर उसने संकल्प लिया था पूर्णतः आदिम हो जाने का संस्कार मुक्त हो मनचाहा जीवन बिताने का। उसे ऐसा लगा था कि इस जीवन में ही बहुत युगों से खोये हुए मनुष्यों के प्रथम जीवन-यात्रा का रोमांच—आदिम जीवन की मस्ती है, पर शीघ्र ही उसका स्वप्न-भंग हो गया। उसने अनुभव किया कि अन्य मनुष्यों की तरह ही नगा भी ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त और प्रतिशोध-प्रिय हैं। उनका हृदय भी सैकड़ों विरोधी-अविरोधी भावनाओं से ओतप्रोत है। उन भावनाओं को नियन्त्रित करने की कौन कहे वे स्वयं ही उनसे नियंत्रित होने लगे हैं। स्वतंत्रता की भावना अच्छी है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वही जीवन का पर्याय बन जाय। प्रेम, शांति इत्यादि स्थाई मूल्यों के प्रकाश में ही जीवन का सार्थक रूप प्रत्यक्ष होता है। जीवन के आखिरी दिनों में उसने वस्तुतः वही चाहा था। निर्विकार भाव से उस आदर्श के पीछे वह वनाग्नि द्वारा खदेड़े गये मृगों की तरह बहुत दूर तक चला भी था, पर अन्ततः फेक के घने अरण्य में भिदेशली के चरों के हाथों उसे मिली मृत्यु। नगा पहाड़ में अब जीवन की कोई स्मृति नहीं रही। लोगों ने सोचा, मैदानी इलाके का एक अभागा युवक एक दिन यहां आया था और यहां की एक युवती, यहां की समस्याओं और यहाँ के लोगों के लिए उसने अपने जीवन की तिलांजलि दे दी। स्वयं आमंत्रित विपत्ति में वह अपना जीवन खो बैठा। यहाँ उसकी एकमात्र स्मृति है—कनचेंग, उसका एकमात्र पुत्र। और मैदानी क्षेत्र में रह गये हैं उसके इष्ट-मित्र, सगे-सम्वन्धी। इन पहाड़ों में मात्र है उसके आदर्श की एक अनुगूँज, एक जीवन्त स्मृति।

जीवन वस्तुतः एक स्फुलिंग था, जला और बुझ गया। अब वह इस मूक पृथ्वी की असंख्य जड़वस्तुओं के मध्य स्वयं जड़ हो विलीन हो गया है। इस धरित्री पर आज यदि इस सहज सत्य को समझनेवाला एक भी व्यक्ति होता तो विश्व में युद्ध नहीं होते, सर्वत्र शाँति होती, अनन्त शांति।

रिशांग तकिये पर अपना सिर टिकाये हुए जीवन बरुवा के विषय में कुछ इसी प्रकार सोच रहा था। उसका मन सोच रहा था कि इस दृष्टि से जीवन की तुलना अविनाश, महात्मा गाँधी इत्यादि के साथ की जा सकती है। जीवन का आदर्श गतिशील कर्ममय निर्झर की तरह था। निर्झर यदि किसी बड़ी नदी, सागर अथवा पहाड़ी में अदृश्य हो जाय तो उसकी छबि, उसकी ध्वनि लोगों के मन को कुछ दिनों तक स्पन्दित किये रहती है।

जीवन की मृत्यु की सार्थकता तभी होगी जब पहाड़ों पर शांति आ जाय—भिदेशली शस्त्रों से खेलना बन्द कर दे और...और... हठात् रिशांग का शरीर सिहर उठा।

वह सोच रहा था—जीवन पर गोली चलाने के बदले, उसके शांति-मिशन को भंग करने के बदले क्या वह भिदेशली को कभी माफ कर सकेगा ? भिदेशली क्षमा का पात्र

नहीं है। उसकी समाप्ति होने पर ही इन पहाड़ों पर शांति आ सकेगी। संभवतः यही करना होगा। किन्तु वह समाप्त होगा किसके हाथों ? खाखोई और खाटिंग के हाथों ? ·· नहीं, नहीं—ऐसा कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं। खाखोई अथवा खाटिंग के द्वारा वह भिदेशली को समाप्त कराना नहीं चाहता, वैसा करायेगा भी नहीं। उससे शांति नहीं आयेगी—यह मार्ग तो हिंसा का है, यह तो पारस्परिक फूट और गृह-कलह का मार्ग है। इससे अच्छा तो यही है कि वह प्रेम का मार्ग ही अपनाये। वह सभी नगाओं से शस्त्रों को निर्वासित कर देने की प्रार्थना करे। युग-युग से शस्त्रों से खेलते रहने के कारण ही नगा आज तक मनुष्य नहीं बन सके हैं। वह इस बार इन्हें मनुष्य बनने के लिए प्रेरित करेगा। प्रगति के लिए चाहिए शांति, प्रेम के लिए चाहिए शांति; शांति तो अपरिहार्य है।

रिशांग का मन थोड़ा शान्त हुआ। उसने निश्चय किया कि स्वस्थ होते ही वह इस बार शांति-यात्रा प्रारम्भ करेगा—गाँव-गाँव में जाएगा, तभी घर-घर में मानव प्रेम की दीपशिखा आलोकित होगी। इलाज के लिए आज तो उसे इम्फाल जाना है। अभी अभी उखरूल-मेल आयेगी। अस्पताल के निकट ही वह रुकेगी। लोग-बाग उसे कंधे पर टाँग कर उखरूल मेल (जीप गाड़ी) में बिठा देंगे। उसके बाद उस छोटी-सी जीप गाड़ी में उसका शुष्क, क्षीण किन्तु शांति-कामी शरीर ऊबड़-खाबड़ उखरूल-इम्फाल सड़क पर आगे बढ़ेगा। यहाँ से प्रस्थान करते समय खुटिंग्ला (पत्नी) छोटी बच्ची की तरह विरह के आँसू बहायेगी। सारेंग्ला सहृदय करुण दृष्टि से अपना हृदय न्योछावर करती हुई कहेगी—"रिशांग, तू शीघ्र चंगा होकर लौट आ।" और क्षतिपूर्ति की माँग के लिए सभा में आये हुए दूर-दूर के नगा बन्धु रिशांग का अभाव महसूसते हुए कहेंगे—"तू तन्दुरुस्त होकर आ जा ··।" मानों मेरे अभाव में वे बिल्कुल बेसहारा हो जाएँगे मानों मेरे न होनेपर क्षतिपूर्ति के लिए उनकी लड़ाई लड़ी ही नहीं जा सकेगी। कितने असहाय, अबूझ और भोले हैं ये लोग। इनके लिए ही मुझे जीना पड़ेगा—इनके लिए ही मुझे यहाँ लौट आना है। और इनके लिए ही काम करना होगा; वही काम जिसे अविनाश और जीवन छोड़ गये हैं; वही काम जिसे महात्मा गाँधी जी छोड़ गये हैं।

सबेरा हो चुका था बहुत पहले ही, पर कुहासे के कारण सूरज अभी तक निकल नहीं पाया था। अस्पताल के कम्पाउण्ड में नार्जी, गुलाब, रजनीगन्धा और लेमनग्रास बड़े शांत नादान शिशु की तरह सोये-से थे। चारों ओर अकारण गम्भीर निस्तब्धता छायी हुई थी। मानों वह भी इन शिशु फूलों की तरह ही एक फूल हो, उस नीरवता की तरह ही एक नीरव करुण स्वर हो। अस्पताल की एक खिड़की के कोने में बैठी हुई धनेश चिड़िया, कुछ दूर पेड़ पर सिमट कर बैठा हुआ बूढ़ा गिद्ध तथा शिशिर की शुभ्र बूँदों से नहाए हुए दूर्वादल और बारामदे में बैठा हुआ माली—सबके सब थोड़ी-सी खिली धूप के लिए ईश्वर से मूक प्रार्थना कर रहे थे। और रिशांग, उसके भी हाथ-पैर ठिठुर रहे थे।

तभी कनचेंग को गोद में लिए हुए सारेंग्ला उसके पास आई। उसे देखते ही ही कनचेंग बोल उठा—

"रिशांग काका !"
"कनचेंग !"
"पिताजी को कहाँ छोड़ आये ?"
"उ···स····प···हाड़ी पर।"
"कब आयेंगे ?"

और रिशांग के मुख से आवाज न निकली। उसने कनखियों से सारेंग्ला की ओर देखा। तभी उसने महसूस कि उसकी आँखों में छलक आये आँसू ही सारेंग्ला की आँखों से टप-टप गिर रहे हैं।

"सारेंग्ला !"

"क्या ?" आँसू पोछती हुई वह बोली।

"कनचेंग का भार तुम्हीं पर है। जीवन के घर से शायद कोई नहीं आये।"

सारेंग्ला ने कुछ न कहते हुए भी कनचेंग को अपने सीने से चिपका लिया और उसे प्यार से सहलाते हुए बोली—"मेरे साथ रहोगे न कनचेंग।"

कनचेंग ने जिज्ञासा की—"तू मुझे बिस्कुट खरीद देगी न—हाफिज की दुकान वाला लाल-लाल बिस्कुट ?"

"दूँगी, मेरे लाल अवश्य दूँगी ?" सारेंग्ला ने प्रसन्नता से मुस्कराते हुए कहा। और उसे गोद से उतारती हुई बोली, "जा बाहर खेल।" और कनचेंग बिस्कुट पाने की आशा में आनन्दित हो बाहर निकल गया।

रिशांग बोला—"यह तुझसे घुल-मिल गया है।"

"इसे छोड़ कर मेरा और है ही कौन रिशांग ?" सारेंग्ला बोली।

"क्यों, मैं तो अभी हूँ ही", रिशांग का उत्तर था।

सारेंग्ला कहना चाहती थी कि खुटिंग्ला ने उसके हृदय का सर्वस्व हड़प लिया है, रिशांग पर अब उसका अधिकार है ही कहाँ !

सारेंग्ला के निरुत्तर मुख को निहारता हुआ रिशांग एक विज्ञ व्यक्ति की तरह हँस पड़ा। कुछ क्षण की मौन के पश्चात वह बोला—"सारेंग्ला, संसार में कोई किसी का नहीं होता", और यह कहते-कहते उसका मुख रक्ताभ हो गया।

"क्यों ?"

"सब लोगों से प्रेम करने वाले का प्रेम किसी व्यक्ति-विशेष तक भला सीमित कैसे हो सकता है।"

'झूठ, बिलकुल झूठ; तुम खुटिंग्ला से बहुत प्रेम करते हो।"

"हाँ, यह सच तो है, पर जिस प्रेम की शिक्षा तुमने दी है, वही प्रेम सच्चा है—वही प्रेम महान है।"

"मतलब ?"

"महान प्रेम वही है; विश्व में यदि कोई स्थायी प्रेम है तो वही है।"

और सारेंग्ला का हृदय भक्ति से गद्गद् हो गया। उसकी आँखें आत्मविभोरता की स्थिति में स्वतः मुँद गयीं। मन-ही-मन वह स्मरण करने लगी उस पुरानी घटना को जब वह रिशांग को पवित्र बाइबिल पढ़कर सुनाया करती थी। ज्यों-ज्यों उसे उक्त घटना की स्मृति साफ होती गयी, त्यों-त्यों उसका हृदय अपरिसीम आनन्द से उद्वेलित होता गया। उसके हृदय की सारी वेदना, उसके जीवन के सारे कलंक, स्नेहाविल समस्त अपराध और इस्वेरा की अपावन स्मृति क्षण-भर में ही उसके हृदय से विलुप्त हो गयी। शेष रह गया एक अनाविल, शुभ्र, सुन्दर, ज्योतित दीपशिखा-सा उसका जगर-मगर हृदय।

सारेंग्ला के चेहरे पर प्रकट हुए इस पावन दृश्य को देखकर रिशांग ने संतोष की साँस ली।

तभी अँजुली भर लाल और उजले गुलाब के फूलों को लिए हुए वहाँ खुटिंग्ला आयी और सारेंग्ला के निमीलित नयनों की ओर देखकर व्यंग्य से मुस्कराती हुई धीरे से बोली—"सारेंग्ला, तुझे फानित्फांग बुला रहा है।"

और सारेंग्ला का मानसिक आनन्दलोक क्षणभर में ही धूलि-धूसरित हो गया। फानित्फांग के प्रति उसके मन में क्या धारणा थी इसे वह व्यक्त करने में असमर्थ थी, पर युद्धोत्तर जीवन में फानित्फांग ने उससे वैसी बहुत-सी वस्तुएँ प्राप्त की थीं जिन्हें मात्र विवाहिता पत्नी अथवा माता ही किसी पुरुष को दे सकती है। उक्त उपपति का नाम सुनते ही सारेंग्ला का ध्यान टूट गया। उसने पूछा—"क्यों"

"मुझे क्या मालूम", कहती हुई खुटिंग्ला ने व्यंग्यपूरित मुस्कराहट बिखेर दी। सारेंग्ला का सारा शरीर अपमान से जर्जरित हो गया। रिशांग के प्रति सारेंग्ला का अनुराग भाँप कर ही शायद खुटिंग्ला ने ईर्ष्यावश इस वाक्य-बाण का प्रयोग किया था। उसे यह असह्य लगा। उसने रिशांग की ओर एकबार सकरुण नेत्रों से देखा। रिशांग की बातों से उसे जितना आनन्द मिला था, उतने ही वेदना-भार से झुकी हुई वह अस्पताल से निकल गयी।

रिशांग चाहता था सारेंग्ला को वापस बुला लेना, पर खुटिंग्ला ने बाधा उपस्थित करते हुए कहा—"उसे जाने दो, फानित्फांग जल्दी बुला रहा है। अन्यथा बाद में भेंट होना संभव नहीं भी हो। उसे भी तो आज ही ले जाया जाएगा न !"

रिशांग का मन जैसे ही फानित्फांग के बारे में सोचने को हुआ, वैसे ही खुटिंग्ला ने टोंकते हुए पूछा—"ये फूल सुन्दर हैं न ?"

"हाँ सुन्दर हैं।" निर्विकार भाव से रिशांग ने उत्तर दिया। "अच्छा, यह तो बताओ कि फानित्फांग का विचार कब होगा ?"

"मुझे क्या मालूम ?", असंतुष्ट हो खुटिंग्ला बोली—'क्या मैं उन सब की ही खबर लेती हुई घूम रही हूँ ?" रिशांग ने खुटिंग्ला की ओर निगाहें उठायीं तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि सारेंग्ला के साथ इस साधारण सी लड़की की कोई तुलना ही नहीं हो सकती। सारेंग्ला का हृदय विशाल शुभ्र आकाश है और खुटिंग्ला ? उसका हृदय-मुक्ताकाश में उठनेवाले मेघों की एक टुकड़ी मात्र। कोई और दिन होता तो वह शायद क्रोधित हो जाता, पर आज बिदाई का दिन है, यही सोच-सोचकर वह शांत रह गया। सामने सिर पर मौत मँड़रा रही थी। ऐसे समय में वह शायद थोड़ा-सा प्रेम, थोड़ी-सी आशा और जीवित रहने का सहारा चाहती थी, और जिन्हें वह आसानी से सुलभ कर सकता था।

"खुटिंग्ला, गुलाब से अधिक रमणीय तो तुम्हीं हो; जब तुम मेरे सामने ही हो तो मैं गुलाब के फूलों को लेकर क्या करूँगा ?"

रिशांग की बातों ने खुटिंग्ला को गद्-गद् बना दिया। "मैं सोचती थी...", कहते-कहते उसका हृदय संकोच से घिर आया, वह बोली—"अच्छा, बताओ तो, सारेंग्ला तुमसे बहुत प्रेम करती है न ?"

खुटिंग्ला के इस अकारण द्वेष से रिशांग ने आमोद का अनुभव किया और बोला—"हाँ, सारेंग्ला मुझसे बहुत प्यार करती है, किन्तु वह तुमसे ईर्ष्या-स्पर्द्धा तो करती नहीं।"

"उँह, कभी-कभी तो वह मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती।"

"इन तुच्छ बातों में मुझे न घसीटो खुटिंग्ला", रिशांग का उत्तर सर्वथा विरक्ति-पूर्ण था। वह आश्वासन देता हुआ बोला—"उसके प्रति तुझमें थोड़ी भी सहानुभूति नहीं है।"

'है।"

"तो उसे चोट न पहुँचाओ। वह किसी के हिस्से का भोजन छीन कर तो खाती नहीं।"

रिशांग का दृढ़ उत्तर सुनकर खुटिंग्ला का ईर्ष्यालु मन निर्वाक तो हो गया, पर वह और भी बेचैन हो उठी। उसने बात बदलने की कोशिश की; और, "पैर का घाव सूखा या नहीं ? जाने के पहले कुछ खाओगे या नहीं ? इम्फाल के अस्पताल में कितने दिनों तक रहना पड़ेगा ?" इत्यादि इधर उधर की बातों से खुटिंग्ला ने अपने को उलझा लेने का प्रयत्न किया। रिशांग ने इन प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर दिये और चुपचाप गुलाब के फूलों पर हाथ फेरता रहा। मन-ही-मन वह सोच रहा था, खुटिंग्ला का मन कितना संकीर्ण है ! उसका प्रेम मात्र ईर्ष्या के अतिरिक्त है ही क्या !

हठात् दीवार पर टँगी घड़ी ने आठ के घण्टे बजाये। तभी एक ओर से जनाथन कमरे में घुसा।

"रिशांग, सब लोग आ गये हैं।"

"अच्छा हुआ। तुम लोग सभा करो। खाखोई से मिलो। यदि कुछ नहीं हुआ तो मेरे चंगे होने के पश्चात् तुम लोग इम्फाल आओ। वहीं चीफ कमिश्नर से मिलना पड़ेगा।"—वह मशीन की तरह बातें करता रहा। उसके मन में आग्रह तो था, पर थकावट के मारे उसकी देह साथ न दे रही थी।

"लोगों को शांत करना अब असंभव-सा हो रहा है।"—जनाथन ने कहा।

"क्यों ? क्या हुआ ?"

"सब-के-सब उतावले हो रहे हैं।"

"तब तू यहाँ क्या कर रहा है ? वहीं जा सबको शांत कर ।"—चिन्तित हो रिशांग चिल्ला उठा। उसकी चीख सुन दूसरे कमरे से डॉक्टरनी दौड़ती हुई आयी और बोली—"जनाथन, तू जा; लोग मरें या बचें, पर इसे मत मार।"

निरुपाय जनाथन वहाँ से बड़बड़ाता हुआ बाहर निकला—"लोगों ने खाखोई को घेर लिया है। उसकी हिम्मत नहीं है कि वह लोगों को शांत करे। रिशांग भी बिस्तर पर पड़ा है। कोई उपाय दीखता नहीं। दुनिया में अच्छे लोगों की कमी हो गयी है"।

रिशांग का मन छट-पट कर रहा था—कहीं ये लोग कुछ कर न बैठें! फिर क्या होगा? पर क्या ये लोग इतने नासमझ हैं? बच्चे हैं? वे शांत हो जाएँगे?—रिशांग लगातार सोचरहा था।

इस बार खुटिंग्ला रिशांग के पास आ बैठी और उसके बालों को सहलाने लगी। थोड़ी देर बाद उसने अपने गाल रिशांग के गाल पर रखते हुए धीरे से कहा—"हमारा एक मुन्ना आनेवाला है रिशांग ।"

रिशांग का अशांत मन हठात् शांत हो गया। अब वह यदि मर भी गया तो भी उसके ही खून-मांस से उत्पन्न एक सन्तान तो रह ही जाएगी; उसका प्रतिनिधित्व करेगी उसकी सन्तान। उसके भी लड़के बच्चे होंगे, नाती-पोते होंगे। एक पीढ़ी के पश्चात् दूसरी पीढ़ी फलती-फूलती जाएगी। और उनके कर्मों के द्वारा इन पहाड़ों में शांति आ सकेगी उस दिन सताई, नदाई, भदाई इत्यादि का शासन होगा—जनता की जय होगी। आनन्दातिरेक में वह बोल उठा—"यदि लड़का हुआ तो उसका क्या नाम रखूँगा, जानती हो?"

"क्या?" छुई-मुई-सी होती हुई खुटिंग्ला ने धीरे से पूछा।

"इयारुइंगम।"

"मतलब?"

"जनता का शासन; इयारुइंगम---जनता का प्रतिनिधि।"

"दुनिया में और कोई नाम नहीं है क्या?"

"यही सबसे अच्छा नाम है पगली।"

खुटिंग्ला कुछ और कहना ही चाहती थी कि डॉक्टरनी आ गयी और बोली—"जाने का समय हो गया है। मेल आ गयी। यदि यह कुछ खाना चाहे तो इसे खिला दे खुटिंग्ला।"

उखरूल मेल। मेल तो नहीं, पर मानों यह स्वर्ग से पृथ्वी तक आने का रथ है। मिशिनरी वाले सदा कहा करते हैं कि प्रभु यीशु का कल्पित स्वर्ग-राज्य एक दिन इस पहाड़ी भूमि पर ही बनेगा। यह पहाड़ स्वर्ग बनेगा, शायद न भी बने। पर मेल के हॉर्न और हिचकोले से बार-बार धक्का खाते हुए दुर्बल शरीर को स्थिर रख पाने में रिशांग को कष्ट अवश्य हो रहा था। पर उसकी आँखें उखरूल-इम्फाल सड़क के दोनों बाजुओं में फैले मेघाच्छादित आकाश और आस-पास की ऊँची-नीची धरती पर मुग्ध अवश्य थीं। छोटी-बड़ी पहाड़ी टेकरी और चोटियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो हिंसक जंगली अरने भैंसे हों जो मेल की गति को ही अवरुद्ध कर देना चाहते हों। पर वैसा होता नहीं था। दूसरे ही क्षण ढलान की ओर जानेवाली सड़क दौड़ती हुई जीप को दुगुनी गति प्रदान कर देती थी। युद्ध और शांति, विरोध और सहयोग का वहाँ अपूर्व सामंजस्य दीखता था। यह सड़क और उसकी यह यात्रा उसीकी प्रतीक थी। हाँ उसे इन पर्वतमालाओं से अतीव प्रेम है। यहाँ के पेड़-पौधे, बरसात से नवजीवन पर लहरा उठने वाले यहाँ के खेत-पथार, ऊँचे-ऊँचे टीलों पर बनी झोपड़ियाँ और उन झोपड़ियों में निवास करनेवाले जन---सबसे रिशांग का अटूट प्रेम है। अपने उस अपरिसीम प्रेम को वह शीघ्र ही मूर्त्तरूप प्रदान करना चाहता है। उसके प्रेम की प्रबल इच्छा का ही प्रगटीकरण हुआ है इयारुइंगम—भावी सन्तान की छवि में। इयारुइंगम—जनप्रतिनिधि; जनता का शासन एक दिन सचमुच आकर ही रहेगा।

तभी दूर से आती हुई कोयल की कूक ने वसंतागमन की सूचना दी। और रिशांग का हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो गया।*

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

---

*साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'इयारुइंगम' उपन्यास का एक अंश।

कहानी

शिल्प / लेखक—होमेन बरगोहाईं

सवेरे, नींद खुलते ही प्रशान्त ने बहन को आदेश किया—'मुन्नी, दीवार पर टँगी तस्वीरें, कैलेण्डर वगैरह सब अभी उतार कर सहेज लो। आठ बजे तक पुताई करनेवाला आ जाएगा। उन्हें यों ही छोड़ यदि तू कॉलेज चली गयी तो वह सबको फाड़-चीर कर समाप्त कर देगा। इनकी कीमत भला वह क्या समझेगा।"

"फाड़-चीर दें मेरी बला से"—बहन ने बिस्तरे पर लेटे-लेटे ही उत्तर दिया। "इन सब के नष्ट होने के भय से तुम तो वैसे विचलित हो रहे हो मानों पिकासो की ओरिजनल ही हमारे घर की शोभा में चार चाँद लगा रही है। माँ का भी अजीब शौक था! मुझे तो शर्म आ जाती है।"

चाय की प्याली ओठों से लगाते हुए प्रशान्त बड़बड़ा उठा—"तुझे जो करने के लिए कहा, वही कर। बात न बना। पिकासो की ओरिजनल का नाम ले ज्ञान क्या बघारती है! नाम भर सुन लिया तो लगी तीर चलाने। पिकासो बाघ है या हाथी, उसे पहचानती भी हो? पढ़ती तो हो कॉलेज में, पर अंग्रेजी का एक वाक्य भी तो शुद्ध नहीं लिख पाती; कोई अच्छी-सी किताब तुम्हारे हाथ में तो किसी दिन देखी नहीं—हाँ, सजना-सँवरना और बातें लड़ाना अवश्य सीख गयी हो। तभी तो मैं हमेशा कहता हूँ, हमारे देश में लड़कियों को कॉलेज में पढ़ाने की आयश्यकता है ही नहीं, सिर्फ रुपये और समय का अपव्यय है। कॉलेजी शिक्षा ने तुम सब को लड़की से बदलकर प्रदर्शनी में रखे जाने वाले रंग-बिरंगे खिलौने बना दिया है।"

"और लड़कों को सर्कस का जोकर", कहती हुई वह मरलिन मनरो के चित्रों की छाप से शोभित हवाई-शर्ट को प्रशांत के मुँह के आगे झुलाती हुई खिल-खिल हँसने लगी।

बहन के मन में आज बड़ा आनन्द है। उसकी याददाश्त में आज पहली बार उस घर को पोतनेवाले आयेंगे; घरकी छीजती हुई दीवारों पर चूने से पुताई की जाएगी और लकड़ी के स्तम्भों में तेल पुतेगा। उसके जन्म से पहले ही यह घर उसके पिता ने बनाया था—प्राय: बीस साल से कम तो नहीं हुए होंगे। घर बनाने के बाद ही शायद दीवारें चूने से पोती गई होंगी, पर आज उन दीवारों पर चूने की पुताई के अस्तित्व का पता भी नहीं रह गया है। बीस सालों से धूल-धक्कड़, धूम्रराशि और मैल जमते-जमते दीवारों पर एक नया रंग चढ़ गया है, एक ऐसा रंग जो चिथड़ों में लिपटे भिखारी के अवर्णनीय वर्ण-वैचित्र्य के नि:सम्बल व्याधि-ग्रस्त वार्द्धक्य का सूचक है। सच है कि घर को पुतवाने और खिड़की-दरवाजों पर रंग-रोगन चढ़वाने की सामर्थ्य पिता में नहीं थी, पर उससे भी अधिक कमी शायद उत्साह की ही थी। उसका ख्याल था कि तीस रुपये खर्च कर घर की सफेदी करवाना रुपये का अपव्यय है, क्योंकि उतने ही रुपये में प्राय: एक मन खाने लायक मोटा चावल आ जाता है। जीवन के कटु अनुभवों से उसने यह जान लिया था कि जीवित रहने के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है चावल; दूसरी बहुत-सी वस्तुओं के अभाव में भी जीवन चल जाता है, पर चावल न होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। और कहना नहीं होगा कि उसके पिता का सारा जीवन

चावल का. जुगाड़ करते-करते ही समाप्त हो गया ।

बच्चे बड़े होने पर महसूसने लगे कि दूसरों के घरों की तरह ही उनके घर भी धुले पुते होने चाहिए, दीवारों पर सफेदी होनी चाहिए, हो सके तो इस जरा-जीर्ण घर को तोड़ कर नये सिरे ही घर बनना चाहिए। उनका घर भी विशाखा या स्वप्ना के घर की तरह होना चाहिए, पर यदि वैसा होना असम्भव हो (असंभव क्यों, प्रशान्त को इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान न तो इतिहास दे रहा था, न धर्म, न दर्शन, न समाजशास्त्र) तो कम-से-कम दीवारें तो पुतवायी ही जा सकती हैं। इस औचित्यबोध ने ही दोनों भाई-बहनों को जब-तब पिता से घर की सफेदी करवाने के लिए कहते रहने को प्रेरित किया था। बहन ने एक दिन जिद जरा ज्यादा कर दी तो पिता से उसे एक भन्नाटा भरा तमाचा भी मिला था— 'सिर छिपाने के लिए एक घर मिल गया है, यही क्या कम है ? इसको चाहिए चूने पुती चक-चक दीवारें, बड़ा शौक चर्राया है !'' हालांकि पिता ने बाद में एक दिन यह बताया भी कि "दीवारों पर सफेदी होनी चाहिए, चाहता तो मैं भी हूँ। पर शायद मेरे जीवन में यह न हो सकेगा। हां, यदि प्रशांत कभी नौकरी चाकरी करे, रुपये-पैसे कमाये तो वह स्वयं ही यह सब कर लेगा ।''

और सचमुच बूढ़े के जीवन में वह सब कुछ नहीं हुआ। धूलाच्छन्न, विवर्ण, चीकट भरी और जहाँ-तहाँ से उखड़ी-झड़ी दीवारों को देख-देख कर ही बूढ़े ने एक दिन आँखे मूँद लीं।

बच्चों के भाग्य कुछ अच्छे हो गये हैं— प्रशान्त को एक अच्छी नौकरी मिल गई है। कुछ साल बाद वह नया घर बनाने की भी सोचता है. पर जब तक नया बनता नहीं तब तक उस पुराने के ही उद्धार-संस्कार में जुट गया है। उसी का एक चरण है दीवारों की मरम्मत और उन पर सफेदी करवाना। दीवारों पर चूना पोतनेवाले आज आने को कह गये हैं।

भाई के साथ तर्क समाप्त कर, चाय-वाय पी, बहन ने दीवारों पर टँगी तस्वीरें, कैलेण्डर इत्यादि उतारने शुरू कर दिये। "माँ का भी क्या शौक था!" तस्वीरें उतारती हुई वह मन-ही-मन बड़बड़ाई। तभी माँ भी उसी कमरे में आ गई। बेंत की कुर्सी पर देह को निढाल छोड़, साँस खींच वह बोली, 'तुम्हारी आँख में ये सब आज बुरे हो गये हैं बेटी ! तुम समझ नहीं सकती कि कितने कष्ट सहकर, एक-एक पैसा जोड़कर, मैंने इन सब को खरीदा था ! भला देवी-देवता के चित्र से और क्या अच्छी वस्तु हो सकती है, बेटी !''

बेटी ने तभी लक्ष्मी के एक चित्र पर हाथ लगाया। चित्र को माँ की ओर बढ़ाती हुई बोली, "ले ले, इन देवी देवताओं के चित्र तू जहाँ चाहे रख, पर इन हँसी उड़ानेवाले चित्रों को मैं फिर यहां टाँगने नहीं दूँगी।''

एक ओर से वह चित्रों को उतारने लगी। हाथी की सूँड वाले गणेश का चित्र, अशोक बन में सीता के आगे घुटने टेके हुए हनूमान का चित्र, कदम्ब-वृक्ष के नीचे वंशी बजाते हुए श्रीकृष्ण का चित्र, इत्यादि-इत्यादि। माँ स्थिर दृष्टि से बेटी के दोनों हाथों का अनुसरण करती गई। बेटी एक एक चित्र दीवार से खींच कर छुड़ाती जाती और माँ को ऐसा महसूस होता मानों उसके सीने से दो निष्ठुर हाथ लगातार कुछ खींचकर निकाल रहे हैं। छाती के किसी एक कोने में कोई गुप्त व्यथा टीस करती। कैसी है वह व्यथा, वह समझ नहीं सकी। बेटी क्या खींच कर ले गयी, इसे भी वह अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकती। क्या यही हैं नयों के चिर निष्ठुर हाथ जो चिर पुरातन को ध्वंस कर देना चाहते हैं ? जीवन सिर्फ वर्तमान तो है नहीं, मात्र भविष्यत भी नहीं है ! वह अतीत भी है—ऐसा अतीत जो बीते हुए क्षणों की मधुर स्मृति में, भोगे हुए कर्मों के परिणाम में, अपूर्ण आशा की वेदना में संचित रहता है। उसके अतीत के मधुर चित्रों को, सुखद स्मृतियों को क्या उसकी अपनी बेटी ही एकदम समाप्त कर देना चाहती है ? कुछ महत्त्वपूर्ण को खो देने की वेदना से उसका हृदय हाहाकार कर उठता, पर मुख से कुछ भी कहने में उसे लज्जा आ रही थी। जिसके पास उसके अतीत की कोई कीमत नहीं उससे वह क्या कहकर कीमत खोजेगी--

उसके बीते दिनों को समझने की जिसमें भावना नहीं, उसे वह बताये भी तो किस रूप में ?

पर अन्ततः उसे सारी लज्जा ताक पर रखनी ही पड़ी, उसे बोलना ही पड़ा। बेटी ने उस समय दीवार पर लगे अन्तिम चित्र पर हाथ लगाया ही था। वह चित्र किसी देवी देवता का नहीं था। वह कपड़े पर रंगीन धागे से काढ़े गये गुलाब-फूल पर एक तितली की आकृति थी। उसे स्वयं उसके स्वामी ने अपने हाथों ही आँक कर दिया था। विवाह के ठीक बाद ही, उस समय प्रशान्त भी पैदा नहीं हुआ था, फिर बेटी के जन्म लेने की तो बात ही नहीं उठती। उस समय अपने पति के आॅफिस चले जाने के पश्चात् वह निर्जन घर में अकेले बैठी रहती, बैठे बैठे उसकी तबियत उब जाती। अपने को व्यस्त किये रहने के लिए उसे कोई काम भी नहीं सूझता था। आज की बहुओं की तरह उसे उपन्यास एवं चटपटी पत्र पत्रिकाओं को पढ़कर समय बिताना नहीं आता था। एक दिन पति के आगे मन की व्यथा के प्रकट करने पर उसने हँसते हँसते कहा था—"तुम्हें कोई काम न रहने से सूना सूना लगता है या मेरी याद कर के ? एक काम किया करो न, फुर्सत के समय कपड़े पर चित्र काढ़ना, नक्कासी करने का काम किया करो। इस प्रकार तुम्हारा समय भी बीत जाएगा, सूनापन भी समाप्त हो जाएगा और धीरे धीरे घर भी सज जाएगा।" तभी पहली बार उसने स्वयं ही वह चित्र आँक दिया था। और चित्र काढ़ना आरम्भ कर उसने सचमुच ही एक नये जीवन की शुरूआत की थी। ग्रीष्म, वर्षा और बसंत की बहुत-सी-अलस निर्जन दोपहरियों के स्वप्न-स्मृति-विषाद को धागों में घुमा-घुमा कर उसने कपड़े पर चित्र काढ़े थे। प्रिय-विरह का शून्य आकाश मानों गुलाब के सुवास तथा तितली के पंख के वर्ण-समारोह से भर गया था। वह आत्मा की गहराई में सुख का अनुभव करने लगी थी। काटते सूने क्षण मानों शिल्प के ध्यान में, स्वप्न चालित अँगुलियों की अन्तर्लीन वेदना में बन्दी हो गये थे।

आज उसी चित्र को उसी की बेटी ने एक झटके में ही नोच डाला था। हँसी से लोट-पोट होती हुई वह चिल्ला उठी—"माँ, यह सब तुमने क्या काढ़ा था माँ ? लो, इसे फेंक दो या बक्से में सम्हाल कर रख लो। लोग इसे देख कर तुम्हारे भौंड़ेपन पर ही हँसेंगे—तुम तो गुलाब फूल की एक पँखुड़ी को भी ठीक से काढ़ नहीं पायी हो।"

माँ झटपट कुर्सी छोड़ कर खड़ी हो गयी। वह उत्तेजना को दबाती हुई बोली—"यह अच्छी हो या बुरी, इसे पहले वाली जगह पर ही लटका दे, तू इसे नहीं समझ सकती बेटी। यह छबि यदि भद्दी है तो भी इस एक के वहीं रहने से तुम लोगों का कुछ बिगड़ तो नहीं जाएगा। तुम नहीं जानती इस छबि को तुम्हारे पिता बहुत चाहते थे।"

बेटी ने खिन्नता प्रगट करते हुए कहा—"पिता तो अब हैं नहीं, फिर अब इस छबि की प्रशंसा कौन करेगा ?"

माँ चाहती थी कुछ कहना, पर स्तब्ध ही बनी रह गयी। अवश हो वह पुनः कुर्सी में धँस गई। मानों उसकी उभरी हड्डियोंवाली छाती पर बेटी के वाक्य ने हथौड़े-सी चोट की—हाँ, अब और इस छबि को चाहनेवाला है ही कौन ?—सोचती-सोचती उसकी दोनों आँखें छलछला गयीं। आँचल से दोनों आँखें पोंछती हुई उसने महसूस किया अन्धकार की असह्य शून्यता को—शायद वह अन्धकार मौत का ही था। उसने अपने मन को समझाने की विफल कोशिश की—'जीवन इसी तरह समाप्त होता है।'

अनु०—डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

श्रीनिवारण भट्टाचार्य / ले०—अरुण शर्मा

निवारण—बातें न बनाओ, मूर्ख कहाँ की ! नन्दिनी, तू खड़ी क्यों है ? मुझे माइक के पास ले चलो। मूर्खों, देख क्या रहे हो; अपने-अपने स्थान पर जाते क्यों नहीं ? स्क्रीन लाइट—लाइट, रेडी, नन्दिनी—समय !

नन्दिनी—पिताजी।

निवारण—तुम सब कर क्या रहे हो ? कितने बजे है ?

नन्दिनी—छह बजे हैं।

निवारण—तब देख क्या रही हो ? मुझे माला पहना दो। [नजर घुमाकर] ओ दुर्गें, ओ उपेन, शंख, घण्टा, थाल आदि बजाते क्यों नहीं ? पर्दा उठाते क्यों नहीं हो ?

[दुर्गे, उपेन आदि शंख, घण्टे, थाल लेकर विंग्स के पास तैयार हो जाते हैं।]

निवारण—हाँ, ठीक है। [माइक्रोफोन की ओर बढ़कर] माइक दो। हाँ, अब, स्क्रीन, लाइट रेडी ? बजाओ, शंख, घण्टे इत्यादि बजाओ। उठाओ, पर्दा उठा दो शंख बजाओ। नन्दिनी !! ··· पर्दा !!!

[शंख, घण्टे इत्यादि जोर से बज उठते हैं। साथ ही पर्दे दोनों ओर सिमट जाते हैं। कुछ देर तक जोर से बजते रहने पर धीरे-धीरे शंख, घण्टे आदि की क्षीण होती हुई ध्वनि बन्द हो जाती है। पर्दा हटते ही मंच पर एक बड़े प्रेक्षागृह में खाली कुर्सियों का दृश्य दर्शकों के सम्मुख उपस्थित होता है। कुर्सियों पर गुलाबी रंग का एक एक कागज अर्थात् निवारण की प्रस्तावना की एक-एक मुद्रित प्रति दिखायी पड़ती है, और उन्हें देखकर निवारण स्तब्ध रह जाता है। इस समय निवारण की पीठ तथा उसके मुख का किंचित् भाग दर्शकों को दिखायी पड़ता है। थोड़ी देर तक एक गंभीर किन्तु मार्मिक नीरवता। धीरे-धीरे घूमकर निवारण सामने दर्शकों की ओर देखता है। और नन्दिनी हाथों से अपने सीने को दबाये हुए, मानों अपने हृदय को टूक-टूक होकर निकल जाने से रोकती हुई तथा अपनी रोनी सूरत को छिपाने की चेष्टा करती हुई निवारण की आँखों पर दृष्टि टिकाये हुए कहती हैं।]

नन्दिनी—पिताजी !

निवारण—नन्दिनी ! मेरे सामने की इन कुर्सियों पर आज एक भी दर्शक क्यों नहीं है ? उतने निमंत्रित अतिथियों में से एक भी नहीं आये, क्यों ? इस बृहत प्रेक्षागृह की प्रत्येक कुर्सी खाली पड़ी है।

सर्वत्र एक मूर्तिमान शून्यता। उतने लोगों को आमंत्रित किया, इतना सारा आयोजन किया; अपने इस क्षीण स्वास्थ्य के बावजूद इतने उत्साह से, इतनी आशा से आयोजन किया, पर पता नहीं वे सब क्यों नहीं आये? कष्ट उठाने के लिए तो उन्हें मैंने बुलाया नहीं था! उन्हें अपनी जेब से एक पैसा खर्च भी नहीं करना था। उन्हें आदरपूर्वक बैठने के लिए मैंने कुर्सियों की व्यवस्था की थी। शिल्पी, नाटककार, अभिनेता, कवि, साहित्यकार, पत्रकार इत्यादि पाँच सौ लोगों को बुलाया था, पर एक भी नहीं आये। मेरे पहले के अभिनयों में भी दर्शकों की संख्या सदा कम ही रहती थी। अभिनय की समाप्ति होने तक दर्शक तो बिल्कुल रह भी नहीं पाते थे। और आज? आज तो एक भी दर्शक आया ही नहीं। वे आये क्यों नहीं? क्या मैंने कोई भूल की है? [नन्दिनी सिसक उठती है। निवारण नन्दिनी की सिसक की ओर ध्यान न दे अपने आप बड़बड़ाता रहता है।] मैंने कोई भूल नहीं की। उन्हें मात्र आमंत्रित किया था। आशा थी कि वे आयेंगे, मेरा भाषण सुनेंगे। मेरी बातें, इतनी उत्तम बातें, इतने सुन्दर ढंग से लिखी गई बातें, मेरे अभिनय की कल्पनाएँ, नये नये आइडिया, पुरानेपन के मोह से सर्वथा मुक्त युगसापेक्ष्य और समय की द्रुतगति के साथ सतत गतिमान मेरा चिंतन, एक महती कला की अभिनव सृष्टि करनेवाली भाषा की अन्तरंगता से छान-बीन कर एकत्र किये गये शब्द,....ये सारी सुन्दर बातें वे सुनेंगे। आह! नन्दिनी। मेरा चश्मा दो। मैं इसे पढ़ूँगा।

नन्दिनी—पिताजी। [अपनी सिसक और दबी हुई रुलाई के साथ चश्मा पहना देती है।]

निवारण—मैं इसे पढ़ूँगा नन्दिनी, मैं इसे सुनाऊँगा। मैं अपनी बातें कहूँगा।.....हे मेरे आमंत्रित श्रद्धास्पद अतिथिगण, आज से उनसठ वर्ष पूर्व एक दिन एक शिशु ने इस धरती पर जन्म लिया था, और उसके जन्म के उनसठ वर्ष बाद आज पुनः एक शिशु की सृष्टि हुई है। उसी का नाम है निवारण भट्टाचार्य, और वही निवारण भट्टाचार्य आपके सम्मुख खड़ा हो आप सब को विनम्र प्रणाम करता है। अपने जन्म से आज इस नवीन सृष्टि होने तक इन उनसठ वर्षों की एक लम्बी कहानी की पाण्डुलिपि को आज मैं....

[इसके पश्चात दृश्य के अन्त तक निवारण अपना सुदीर्घ लेख लगातार पढ़ता जाता है। बीच बीच में नन्दिनी तथा अन्यों के संवाद निवारण के संवाद पर अध्यारोपित होते हैं।]

नन्दिनी—[रोती-रोती निवारण के संवाद चलते रहने पर ही कहती जाती हैं।] पिताजी आप इतने चिल्ला क्यों रहे हैं, आप क्यों बड़बड़ा रहे हैं? आपके सामने कोई दर्शक तो है ही नहीं। हमारे अभिनय को देखने के लिए कोई नहीं आया है।]

निवारण—...आप के सामने प्रस्तुत करूँगा। और इस पाण्डुलिपि को सुनकर.. [अपना संवाद बोलते-बोलते निवारण धीरे-धीरे दर्शकों की ओर मुँह किये आगे बढ़ता जाता है।]

...आप अनुभव करेंगे, आप समझ सकेंगे कि एक महान सृष्टि के लिए, एक अभिनव कला के निर्माण के लिए मानव को कितना त्याग करना पड़ता है, कितने कष्ट, कितनी वंचना और

विपत्तियों से जूझना पड़ता है। इस लड़ाई में मैं हँसते-हँसते न जाने कितनी बार हारा हूँ—और न जाने कितनी बार जीता हूँ। मेरे जीवन के उनसठ वर्षों को महीने, सप्ताह, दिन, घण्टे, मिनट और सेकण्ड में परिवर्तित करने पर आप देखेंगे कि कितने करोड़ सेकण्डों की बर्बादी के बाद मैं जीवन के इस आज' में—इस मुहूर्त में उपस्थित हुआ हूँ ? मेरे जीवन के करीब ढाई सौ करोड़ सेकण्ड नष्ट हो गये हैं। और इन ढाई सौ करोड़ सेकण्डों के नष्ट होने के परिणाम स्वरूप सृष्ट हुआ एक निवारण भट्टाचार्य और इसकी आशा का एक देदीप्यमान सूर्य, इसकी कल्पना का एक निःसीम आकाश। इस आकाश और सूर्य की सृष्टि के आनन्द में ··

{रमेश —[नन्दिनी के निकट आकर] आप लोग भाई साहब को जल्दी घर के अन्दर ले जाइए।

नन्दिनी—[धीर स्थिर भाव से] नहीं बरुवा जी। आज पिताजी को कह लेने दीजिए, जी भर कर मन की सारी बातें कह लेने दीजिए। }

··· आज मैं आत्महारा हो गया हूँ। हे मेरे सहृदय अतिथि वृन्द ! मेरे मन-ब्रह्माण्ड में सृष्टि हुई है एक देदीप्यमान सूर्य की, एक निःसीम आकाश की, और उसकी हजार-हजार मोहक एवं आनन्ददायक प्रतिच्छबियों के स्लाइडों की। और काल-समुद्र की अतल गंभीर गहराई में, समुद्र के सुनील सुशान्त आइने की स्वच्छता में, उज्वलता की गोद में तैरते रहने के लिए मैंने छोड़ दिया है एक एक कर उन हजार-हजार प्रतिच्छबियों के स्लाइडों को। [निवारण ऐसा कहते-कहते पास की सीढ़ी से ऊपर चढ़ने लगता है।] मुझे इस तरह त्याग दिये जाने पर, छोड़ दिये जाने पर विराम नहीं, क्लांति नहीं, स्तब्धता नहीं। [सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ते हुए कहता जाता है।] युगों-युगों के हृदयों में अन्तः सलिला फल्गु की भाँति प्रवाहित होते रहने के लिए मेरी आज की यह प्रस्तुति पूर्ण हो गई हैं। मैं केवल ··

{ सुरेन —नन्दा ! तू कहाँ है ? पिताजी को क्यों छोड़ दिया है ?

नन्दिनी —भैया उन्हें जाने दो। पिताजी को आज जी भर कहने दो,—कह लेने दो। }

···प्रवाहित होता रहूँगा। [सीढ़ी पर से ही] मेरे सहृदय अतिथि-गण, अपने मन-ब्रह्माण्ड के सूर्य का प्रकाश और आकाश का रंग मैं बिखेर रहा हूँ। मैं इसी भाँति प्रकाश और रंग बिखेरता जाऊँगा। मानवता की भूमि पर समय-समुद्र के तटपर केवल प्रकाश और रंग फेरता जाऊँगा बिखेरता जाऊँगा। हे कला प्रेमियो, हे रसग्राही मानवो, आप सबको मैं अपने मन-ब्रह्माण्ड के सूर्य का प्रकाश दे रहा हूँ, ताप दे रहा हूँ, जीवन दे रहा हूँ, यौवन दे रहा हूँ और अपने मन-ब्रह्माण्ड के आकाश का रंग दे रहा हूँ, मेघ दे रहा हूँ, वर्षा दे रहा हूँ, प्राण दे रहा हूँ—प्रेम दे रहा हूँ [अब निवारण सीढ़ी पर दिखायी नहीं पड़ता]

{दुर्गे —[अन्दर से चिल्लाकर] नन्दिनी नन्दा—पिताजी को ऊपर क्यों जाने दे रही हो ? छत तो टूटी हुई है।

नन्दिनी —['हाय' कहती हुई किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो ऊपरी सीढ़ी को देखने लगती है।]

रमेश —क्या ?

दुर्गे —[चिल्लाते हुए उतावले ढंग से आता है] ऊपर वाली छत तो टूटी हुई है। अब मज़ा चखेंगे ! सुरेन, दौड़ो पिताजी को पकड़ लो !

नन्दिनी —[चिल्लाकर] पिताजी। उस ओर न जाइए।

रमेश —[चिल्लाकर] भैया ! नन्दिनी !

नन्दिनी —पिताजी !

[दुर्गे, सुरेन, उपेन सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने लगते हैं और चिल्लाते हैं—पिताजी !
नन्दिनी चिल्लाकर 'हाय' कहती है और जड़ हो जाती है। सीढ़ी पर से दुर्गे आदि सभी हाथ ऊपर की ओर किये हुए ऊपर की ओर देखते रह जाते हैं। नन्दिनी जड़बनी हुई दर्शकों को देखती रहती है।] }

...हे विश्वजन, सूर्य के इस आलोक से आप देदीप्यमान हों। आकाश के इस रंग से रंजित हों, उद्दीप्त हों, हे महान विश्वजन, हे विश्व ब्रह्माण्ड, हे महाविश्व ब्रह्माण्ड—हे हे-हे-हाँऽ .... !!

[मंच से उठती हुई निवारण की विकट चिल्लाहट शून्य में विलीन हो जाती है। और उस चिल्लाहट के साथ ही सब की समवेत पुकार दुर्गे आदि की 'पिताजी', रमेश की 'भैया' और नन्दिनी की 'हाय' एक विराट चिल्लाहट बन शांत हो जाती है।]*

अनु० डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

---

*श्री अरुणशर्मा द्वारा लिखित नाटक "श्री निवारण भट्टाचार्य" का अन्तिम अंश।

साहित्य एकादमी पुरस्कार—१९७७.

समाचार की एक रिपोर्ट के अनुसार : साहित्य अकादमी ने १९७७ वर्ष के पुरस्कारों के लिए १९ पुस्तकों को चुना है। ये पुरस्कार उन पुस्तकों से संबंधित हैं जो पहली बार गत तीन वर्षों में प्रकाशित हुई हों। इस वर्ष प्रथम बार कोंकणी और नेपाली पुस्तकों को भी पुरस्कृत किया गया है।—सिन्धी, कश्मीरी और उर्दू में कोई पुरस्कार नहीं घोषित किया गया।

पुरस्कार एक ताम्र पत्र में आकीर्ण प्रशस्ति पत्र के साथ पाँच सहस्र मुद्रा के रूप में एक विशेष समारोह में लेखकों को दिए जाएँगे।

पुरस्कृत पुस्तकों में निम्नलिखित पुस्तकें सम्मिलित हैं :

असमिया — आनन्द चन्द्र बरुवा : बकुल बनार कविता
कन्नड़ — के० एस० नरसिंह स्वामी : तेरेड़ा बागिलु
कोंकणी — रवीन्द्र केलेकर : हिमालयन्त
गुजराती — रघुवीर चौधरी : उपरवास कथात्रयी
डोगरी — केहरी सिंह मधुकर : मैं मेले ए जानुन
बंगला — शंख घोष : बाबरेर प्रार्थना
मैथिली — राजेश्वर झा : अवहट्ट-उद्‌भव ओ विकास
हिन्दी — शमशेर बहादुर सिंह : चुका भी हूँ नहीं मैं

प्रार्थना / नवकान्त बरुवा

—But what about God ?
Have you left him out ?
—I find no need,
Sire, of that hypothesis.

ईश्वर ईश्वर
ईथर की तरह शून्य, ईश्वर
मन्दिर के अगुरु-धूम की
आड़ में है तुम्हारा वास
तभी तो हो तुम इतने अस्पष्ट
त्रास-तरनि खेते हुए आये तुम
मानव के विश्वास-घाट पर,
स्वयं झोपड़ी में रह कर भी
मानव ने निर्मित किये तुम्हारे लिए
गिरजे, मन्दिर, मसजिद ।

असमाप्य कल्पना की कुलाँचें भर
अशेष क्षमता के प्रामाण्य स्वरूप—
विविधालंकृत कर तुम्हारे गात्र
मानव ने ही तुम्हें किया है महान ।
क्या यही है उसका प्रतिदान ?
तुम्हें बड़ा बनाते-बनाते मानव
स्वयं बन गया है बौना ।

जरा सोचो तो
फेरीवाले की तुला··· · !
अपने सृष्टिकर्त्ता मानव का
जरा विचार करो तो !
हाय रे भोला मानव
और मानव के अबोध ईश्वर !
तुम हो,
मात्र प्रिमिटिव्ह मानव की अनुर्वर कल्पना
एक जीवित कुसंस्कार
मानव के बर्बर दिनों की एक दुखद स्मृति
····· फिर भी
तुम नहीं हो, कहने को साहस नहीं हमारा !

ईश्वर,
आखिर हो क्या तुम
बीजगणित के मात्र एक्स ?

—अनु. डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मगध'

उपल-वृष्टि / महेश्वर नेओग

विष्णु शर्मा ही कह सकते हैं—
'तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनः';
किन्तु अभी दस मिनट में ही
मुट्ठी भर-भर उजले ओले फेंक-फेंक
मकानों से उछला ससरा-फिसला
किसने मेरे ब्लीडिंग-हार्ट फूल को
क्षत-विक्षत और चूर-चूर कर दिया ?
खून रिसने के लिए कलेजा भी न रहा !

अनु०—डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

धरित्री है न नीचे

निर्मलप्रभा बरदलै

पण्डुकी की गुटर-गूं पर भूला मेरा बचपन
हवा के झोंकों में फिरिकिनी बना मेरा यौवन
काँई लगे पोखरे के हरे और थमे पानी में
डूबे घाट पर टिका मेरा वर्त्तमान ।
और वृन्त से पत्थर पर टपक,
फट जाने वाले पके फल की
गन्ध-सा बिखरा मेरा स्वप्न ।।

धरित्री है न नीचे
धरित्री ·····?

अनु०—डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

दो कविताएँ / हीरेन भट्टाचार्य

(१)

दूर है नदी/नदी में बन्दी करुण ध्वनि ।
हे मेरी निरभिमानिनी प्रकाश-दुहिता
मुझे तू हाथ पकड़ कर ले चल/दुःसह शब्द भेद
उद्वेलित लहरों का है जहाँ क्षुद्रतम आरम्भ ।

(२)

मृत्यु भी है एक शिल्प—
दुर्भेद्य जीवन-प्रस्तर पर उकेरित
एक निर्लोभ भास्कर्य ।

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

नीरवता / बीरेन गोहाईं

समय और संसार ने
सर्वस्व लूट कर हाँक दिया है मुझे
राजपथ पर।

आँगन के दूर्वादलों पर हिमकणों की माया
किसी से कहा नहीं समझाकर।

वही हिमकण आज
हीरे की तरह करता है मेरे हृदय को क्षत।

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

प्रश्न / भवेन बरुवा

अन्धकार में, पैर के अँगूठे पर
कोई एक शीतल गतिशील स्पर्श।
क्या है वह मेरा भूत ?
अथवा भविष्य ?

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मगध'

सितारों का क्रंदन / नीलमणि फुकन

शुक्रवार था या रविवार

हवा के झोंके छीन लेते थे
मुख से/सुपक्व नारंगी को
ऐसा लगा मानों
कलेजे से टकरा कर एक नदी
बह गयी थी लाल बन कर

पेड़ के पत्तों पर काँपता हुआ
झूल रहा था
उस संध्या का दग्ध निर्वेद।

शुक्रवार था या रविवार
शीशों पर फैल रहा था
थमे हुए
सितारों का क्रन्दन।

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मगध'

तुम / अनीस उज्जमा

अपरिचित यंत्रणा की धार से
टकरा जाती है मेरी चिन्ता :
यादें ही बन जाती हैं तेरा सहारा।

शेष रात्रि तुम्हारे मुख पर
मेरे प्रेमिल स्वप्न की छाया।

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

दो कविताएँ / मोहन कृष्ण मिश्र

(१)

समस्त कठिन शब्दों ने ही
मेरा घेराव कर लिया है।
मेरा घर
कठिन शब्दों के ही मध्य है।

(२)

मानव ने गीत गाये थे,
कातर हो पड़ी थी
टूटे डैनोंवाली चिड़िया।
चिड़िया छटपटा रही थी, और
मानव ने उसी तरह गीत गाये थे।

अनु० डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

मन्दाक्रांत / तफज्जुल अली

आकाश का इन्द्रधनुष सतरंगी हो,
पर हमारी धरित्री और भी रंगीन है।
तेजस्वी सूर्य के सप्त रंग
इसके शुभ्राभ्र वक्ष पर खेलते हैं।
हमारा जीवन धरित्री के धुपहरे वक्ष पर
किलोल करता है
और प्रेम पूरित हमारा हृदय नित्य हरा है।
हमारी धरती पर अनियंत्रित प्रकाश
उस महादानी सूर्य का दान है
जिसने इन्द्र धनुष को सात रंग दिए हैं
और हमें जीवन दिया है।
इसलिए इस धरित्री के वक्ष पर
हमारा जीवन इतना प्रेय है।

नैश-नभ के प्रति / नवकांत बरुवा

मैं असहाय हूं, यद्यपि
मेरे निवेदन में विभूति है ।
ओ नभ, मेरा निवेदन सुन,
बता, इस रजत बंकिम-विधु से
किस समस्या का शर छूटता है ?
ओ नभ, हमें कुछ और स्थान दे
कि हमारा नभ, बहुत बहुत संकीर्ण है ।

प्रेम का उत्तर / देवकान्त बरुवा

प्रिय तुम्हारे कोमल हृदय ने जो मुझे दिया है
उस दिव्य प्रेम के मूक-दान का
प्रतिदान केवल यही है
—ये मेरी अर्थहीन तुकबन्दियाँ !

धृतराष्ट्र / नवकांत बरुवा

मैं पिता न हो सका अपनी प्रजा का
क्योंकि रहा पिता बन अपनी ही सन्तान का ।
जब पितृ-गौरवार्जन का अवसर मिला
तो सम्राट ने पिता का मुंह तोप दिया
और कहा मेरे कान में
"राष्ट्र लज्जित होने को नहीं है—
उसकी शक्तिहीनता पर दया करो,
राष्ट्र नपुंसक है ।
क्या अन्तर कुछ है निर्वसन-नारी में
और सस्यावरण-हीन निहंग खेत में ?
राष्ट्र है पिता
जबकि निपट शिशु है पुत्री
उसका निरावरण
पिता के लिए दैनिक अनुभूति है ।"

विश्राम नहीं कर सकते

हेमकांत बरुवा

हम लाल साहस से गढ़ें अपने हृदय !
हमारे हल की नोक पर
महाकाव्य की सीता समाधिस्थ है ।
वह कांचन-मृग हमें इंगित करता है
और हमारे शरीर का सुवर्ण, ओ शकुन्तला !
मुझे इशारा करता है !
मैं जल कर भस्म हो जाता हूं ।
कोरिआ में वहाँ श्वेत काक हैं
और श्यामल सस्य भी । प्रिये, हमारी फसल
तुम्हारे यौवन-सी परिपूर्ण है,
और तुम्हारी अँगुलियों में
सूत कातती तकली घूमती है ।
इतिहास के शीत-कक्ष में हमारा सूर्य सुप्त है ।
जो नारे हम लगाते हैं,
वे समय के सैकत-कूल की
गहरी मौन को खिन्न करते हैं ।
जनता की भीड़ चल निकली है
ये नारे किस लिए हैं ?
हम जैसे सहस्रों हैं
और युगों की भूख, हमारे उदर में जूझती है ।
आओ, एक बार फिर इस शक्तिशाली ब्रह्मपुत्र
के जल को अपने हृदय-रक्त से रँग दें ।
उसमें जीवन की पुकार है
किसके लिए ? – तुम्हारे लिए, मेरे लिए
और हम जैसे लाखों-करोड़ों के लिए ।
आओ, मेरे पास बैठो, इस मुर्दा चाँद को
अपनी चीते सी तेज
आँखों की लौ में झुलस जाने दो ।
हमारा पथ युगों के प्रकाश से उद्वेलित है
और हमें इशारा करता है ।
ओ शकुन्तला, संघर्ष की कविता
मर नहीं सकती, और हम
कभी विश्राम कर नहीं सकते ।
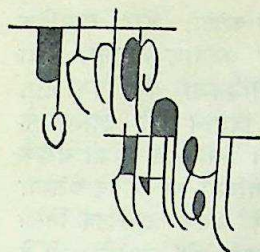
चिन्तनमुद्रा : साहित्य-चिंतामणि
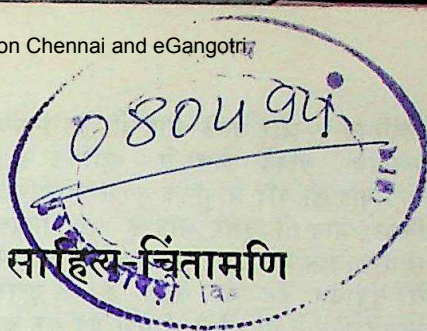
भारतीय जन-जीवन की तरह इस समय भारतीय - साहित्य भी एक बड़े अनिश्चय और असमंजस के दौर से गुजर रहा है। हिन्दी साहित्य इसका प्रमाण है। कमधिक रूप में अन्य भाषा के साहित्यों में भी यह स्थिति देखी जा सकती है। यही कारण है कि आए दिन साहित्य में नए-नए वाद, नए सम्प्रदाय और नई पीढ़ियाँ उभरती हैं और समाप्त हो जाती हैं। यह बात नहीं कि अतीत में नई उद्भावनाओं को स्थान न था, वस्तुतः साहित्य को नए आयाम इस प्रकार के वैचारिक विमर्श से ही प्राप्त होते हैं। किंतु चिन्ता का विषय तब हो जाता है जब कि इन परिवर्त्तनों का प्रभाव हमारी आस्थाओं, या जीवन-मूल्यों पर भी पड़ता है। साहित्य उन मूल्यों का लक्षण तो होता ही है।

आधुनिक जीवन की जटिलता, विविधता और विसंगतियाँ ही इस असमंजस के मूल में बताई जाती हैं। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव को भी कारण माना जा सकता है। यदि यह बात मान ली जाती है तो प्रश्न आधुनिकता का हो जाता है। जीवन में जब आधुनिकता का आग्रह दुर्निवार हो तो साहित्य उससे अछूता कैसे रह सकता है ? समस्या तब है आधुनिकता की कसौटी की, और उस कसौटी की प्रामाणिकता की। साहित्य के मनीषियों और समाजशास्त्र के विद्वानों की इस ओर बराबर दृष्टि रही है। इसी विषय को उठाया है कलकत्ता विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने नए ग्रन्थ 'चिन्तन-मुद्रा' में। 'अपनी बात' में वे कहते हैं, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की गौरवपूर्ण उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए भी मुझे लगता रहा है कि उसमें एक प्रकार का असंतुलन बढ़ता जा रहा है। स्वाधीनता के बाद के हिन्दी साहित्य में उत्तरोत्तर तात्कालिकता पर दृष्टि अधिकाधिक केन्द्रित होती गई है। आज के हिन्दी साहित्य में ऐसे जीवन-मूल्यों की अल्पता देखकर मेरा मन देश-विदेश के ऐसे साहित्य की ओर उन्मुख होता रहा है जो इस दृष्टि से तृप्तिकर है।'—इसी दृष्टि से उन्होंने 'चिन्तन-मुद्रा' के इन निबन्धों की रचना की है हिन्दी-साहित्य ही को अपनी पीठिका मानकर, क्योंकि उनका कथन है कि 'लिखा तो उसी पर जा सकता है, जिसे कुछ अधिक निकटता से देखा-परखा हो।'

इस पृष्ठभूमि के बाद पुस्तक से कई आशाएँ और सम्भावनाएँ स्वतः बन जाती है : सर्वप्रथम तो यह कि विद्वान लेखक ने हिन्दी के आधुनिक साहित्य का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत कर जीवन के मूल्यों में जो अल्पता आई है, उसका दिग्दर्शन किया होगा, फिर जीवन के उन मूल्यों की कसौटी प्रस्तुत की होगी, जिन्हें वह सर्वकालिक मानता है, और फिर यदि संभव हो तो नई दिशाओं की ओर इंगित भी किया होगा।—लेखक का विचार है कि 'भक्ति-साहित्य की उदात्तता से जुड़कर आधुनिक साहित्य और जीवन भी अधिक प्राणवंत हो सकता है।' इसीलिए उसने भक्ति-साहित्य और खासकर तुलसी-साहित्य पर, जिसे वह बार-बार चिन्तन-मनन-लेखन का विषय बनाता रहा है, अपनी दृष्टि केन्द्रित करके हिन्दी साहित्य के एक विशद दृश्यपट पर चिन्तन और विचार-विमर्श किया है। उनका पहला निबन्ध ही है 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास।'

वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक के १८ निबन्ध संग्रहीत हैं, जिन्हें मोटे रूप में तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले सात निबन्ध तुलसी साहित्य से

संबन्धित हैं और उसके बाद दो और निबंध कमोबेश भक्ति काल से संबंधित है। छायावाद को यदि आधुनिक युग में परिगणित किया जाय तो दूसरे भाग के चार निबंध मध्य-कालीन या उत्तर मध्यकालीन साहित्य से संबंधित कहे जा सकते हैं। उत्तर मध्यकालीन से तात्पर्य है द्विवेदी युग तक का साहित्य। तीसरे में एक निबंध शांतिप्रिय द्विवेदी की छायावाद की समीक्षा के संबंध में, एक निबंध दिनकर के संबंध में, दो निबंध सर्वेश्वर के संबंध में। 'आधुनिक हिन्दी कविता और उसका पाठक वर्ग' ही एक निबन्ध है जो सीधे आधुनिकता-बोध और पाठक-वर्ग से उसके संबंध पर विचार प्रस्तुत करता है। सरसरी दृष्टि से देखने से, लगता है कि लेखक के लक्ष्य को देखते हुए यह अभियान एकांगी रह गया है। किन्तु आंशिक रूप से यह सत्य होते हुए भी लेखक ने इस प्रयास में काफी क्षेत्र नाप लिया है।

आधुनिकता के लक्षणों की लेखक ने पहले ही निबंध 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास' में पहचान करा दी है, जिनमें अग्रगण्य है नवीन अनुभवों और परिवर्त्तनों के लिए तत्परता।—इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हर नया अनुभव और नया परिवर्त्तन अंगीकार कर लिया जाय तभी आधुनिकीकरण की शर्त पूरी हो।—जैसा कि लेखक कहता हे आधुनिकता तो वस्तुतः एक विशेष प्रकार की दृष्टिभंगी है, जिसे अपनी संस्कृति की पृष्ठिभूमि में अंगीकार कर अपने आचरण में उतारना पड़ता है। नवीन अनुभवों और परिवर्त्तनों के मूल में लेखक ने विज्ञान और औद्योगिकी के माध्यम को माना है। यह मानना कठिन है कि लेखक की यह दृष्टि पर्याप्त व्यापक और स्फीत है। विज्ञान और औद्योगिकी से परिवर्त्तन तो संभव है, किन्तु उन परिवर्त्तनों को अंगीकार करना वैज्ञानिक बुद्धि का काम है, श्रद्धा का नहीं। इस शिकायत के प्रति कि अंग्रेजों के जाने के बाद भारत में बेतहाशा अंग्रेजियत बढ़ गई है, लेखक का मत है कि यह अंग्रेजियत न होकर एक हद तक आवश्यक और वांछित आधुनिकीकरण की प्रक्रिया है। इस बहस से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिकता की कसौटी है विज्ञान और औद्योगिकी के प्रति अनुरक्ति, इनके दो प्रेरक तत्व व्यक्तिगत स्तर पर उपलब्धि-कांक्षा, और सामूहिक स्तर पर सामुदायिक कल्याण-भावना, श्रद्धा के स्थान पर बौद्धिकता की प्रधानता, समयनिष्ठा, और विज्ञान की उन्नति के कारण नास्तिकता। नास्तिकता को लेखक ने उग्र आधुनिकतावादियों का आग्रह बताया है, और इस संदर्भ में जर्मन दार्शनिक नित्शे को अर्ध-विक्षिप्त तक की उपाधि भी दे डाली है। सही बात यह है कि परंपरा में मनुष्य के सारे प्रयत्नों के केन्द्र में जहाँ अवतक ईश्वर था, आधुनिकता का तकाजा है कि वह केन्द्रीय स्थान अब मनुष्य को दिया जाय। ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व से विज्ञान को या आधुनिता को कुछ लेना देना नहीं।

लेखक का मत है कि हिन्दी का साधारण शिक्षित पाठक वर्ग नई कविता को बहुत कम पढ़ता है, पढ़ता भी है तो उसे पूरी तरह समझ नहीं पाता। 'आज भी उसके लिए वह आंतक का विषय है, हृद्‌यता या प्रीति का नहीं।'—इधर नयी कविता के बाद की विभिन्न धाराओं को अभिनव-काव्य, संचेतन कविता, अकविता, युयुत्सावादी कविता, स्मशानी पीढ़ी की कविता आदि नए नाम दिए गए हैं, जो सामान्य पाठक के लिए नई कविता से भी अधिक दुर्बोध्य हैं।

लेखक ने इस संबंध में ऐतिहासिक कारणों की खोज करके एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित किया है, जो पाठक और नई कविता के बीच मूल के अपरिचय को रेखांकित करता है और जो अन्य किसी भाषा के क्षेत्र में लागू नहीं होता। वह तथ्य है आधुनिककाल में हिन्दी कविता की भाषा में सहसा बदलाव। भारतेन्दु काल तक हिन्दी कविता ब्रज भाषा में लिखी जाती थी, स्वयं भारतेन्दु की कविता नब्बे प्रतिशत ब्रजभाषा में है, यद्यपि वे आधुनिक गद्य के जन्म दाता कहे जाते हैं। माध्यम का यह आकस्मिक परिवर्त्तन, विषय-वस्तु के परिवर्त्तन के साथ ही हिन्दी कविता के परंपरागत पाठक के लिए एक झटके का काम था, जिसे वह अभीतक आत्मसात नहीं कर पाया है। लेखक ने आश्चार्य व्यक्त किया है कि व्यावहारिक जीवन, प्रशासन, व्यापार, शिक्षा आदि में लंबे समय तक अंग्रेजों के अनिवार्य संपर्क के बावजूद सन् १८६७ ई०

तक सर्जना के स्तर पर हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का स्पर्श भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह आश्चर्य की बात क्यों है ?—संपर्क के जिन अनिवार्य क्षेत्रों को लेखक ने गिनाया है वस्तुतः वे क्षेत्र व्यापार के क्षेत्र को छोड़ कर क्या भारतीयों की स्वेच्छा से बने थे ? दस वर्ष पूर्व ही १८५७ का प्रसिद्ध सैनिक विद्रोह हुआ था, जिसके फलस्वरूप देश में अंग्रेजों ने अभूतपूर्व दमन-चक्र चला रखा था।—अंग्रेजों से भारतीयों का संपर्क निकृष्ट तम रूप में म्लेच्छों से घृणा का और उत्कृष्टतम रूप में नृशंस के प्रति भय का और अविश्वास का था।—और यही स्थिति कमोबेश रूप में स्वतंत्रता प्राप्ति तक रही है। अंग्रेजों के जाने के बाद जिसे लेखक ने बेतहाशा अंग्रेजियत न कहकर एक हद तक आवश्यक और वांछित आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बताया है, यदि सचमुच वह ऐसी होती तो आज अंग्रेजी-भाषा और अंग्रेजियत से लदे फदे हिन्दी के नए तेवर के कवियों की तथाकथित आधुनिकतामई कविता, एक सुशिक्षित पाठक के भी असन्तोष का कारण नहीं होती।

लेखक ने एक सर्वेक्षण द्वारा यह तो प्रतिपादित किया है कि आधुनिक हिन्दी कविता सामान्य पाठक वर्ग से भयावह सीमा तक कट गई है, और यह बताया है कि इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं कवि स्वयं अपनी अतिशय व्यक्तिवादिता के कारण, अतिशय आधुनिकता के नाम पर भारतीय जीवन की प्रत्यक्ष और वास्तविक अनुभूतियों को वाणी देने के स्थान पर विश्व चेतना की आड़ में ह्रासोन्मुख पश्चिमी संस्कृति के खोखले प्रतिमानों को अपनाने की गलती के कारण और प्रयोग की झोंक में अपनी भाषा प्रतीक-योजना, बिंब-रचना को करीब-करीब पहेली बना देने के कारण।

कारणों को बताकर भी लेखक के पास अभीष्ट परिवर्त्तन को लाने का कोई गुर नहीं है। उसके विचार से कवियों को 'शार्टकट' का रास्ता छोड़ना पड़ेगा। 'शार्टकट' से लेखक का तात्पर्य स्पष्टतः क्या है यह नहीं बतलाया गया है। इससे पूर्व लेखक ने कहा है कि आधुनिकता को पैदा करनेवाली जो स्थितियां हैं वे हमारी भोगी हुई नहीं हैं, अतः वे भारत में उद्भूत नहीं, वरञ्च आयातित हैं। यदि इस आयात को लेखक शार्टकट मानता होतो, क्या वह आधुनिकता को उत्पादन करनेवाली स्थिति 'संघर्ष' की कामना करता है ?—स्पष्ट ही यह उसका इरादा नहीं हो सकता। आगे उसने कहा है कि हमारा काव्य अपने कथ्य और कथन-भंगिमा में उतना ही आधुनिक हो सकता है, जितना आधुनिक हमारा समाज है, अर्थात उसका सामान्य शिक्षित वर्ग है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकतामई कविता केवल उस विशिष्ट वर्ग के लिए, अधिक स्पष्टरूप में प्राध्यापकीय-वृत्त में, अपने कौशल को दिखाने के लिए ही लिखी और सराही जाती है। बल्कि इसे सही माने में आधुनिक कहना भी गलत है, क्योंकि इस वर्ग-विशेष की रुचि-मति भारतीय संस्कृति से कहाँ तक मेल खाती है, यह भी विवाद का विषय हो सकता है।

स्थिति यद्यपि बहुत कुछ सही है, पर मैं समझता हूँ इतनी भयानक नहीं है। लेखक ने पुस्तक के प्रारम्भ में आधुनिक साहित्य में जीवन-मूल्यों की जिस अल्पता का उल्लेख किया है, यदि इस प्रसंग में वह उस पर कुछ विस्तार से टिप्पणी करता तो रोग के निदान में कुछ सहायता मिलती। इसके अतिरिक्त एक और तथ्य है: हर युग की साहित्य-धारा के समानान्तर उसके लक्षण-साहित्य का, व्याख्याकार का भी उतना ही महत्व है जो उस काव्य को परिभाषित और व्याख्यायित करे। इस युग की यह विशेषता है कि प्रायः सर्जक ही अपना व्याख्याकार है कोई स्वतन्त्र अन्य पुरुष नहीं। सवक्तव्य कविताओं का प्रकाशन इसका प्रमाण है। अपने मुँह अपनी वकालत से कवि की प्रामाणिकता कम ही होती है, बढ़ती नहीं, और वह पाठक का विश्वास नहीं प्राप्त कर सकता, साधारणीकरण की समस्या तो अधर में टँगी रह ही जाती है। प्रविधि की उन्नति से आधुनिक युग में संचार-साधनों का ऐसा अभ्युदय हुआ है कि दुनिया बहुत कुछ सिमिट गई है, और अनुभूतियाँ आंचलिक, देशगत या व्यक्तिगत नहीं रह गई। वियतनाम के युद्ध की विभीषिका मात्र वियतनामियों ही को संत्रस्त नहीं करती, उस अनुभूति को आयत्त करने के लिए तदनुरूप 'संघर्ष' की अपेक्षा भी नहीं है। इस अनुभूति से उत्पन्न संत्रास को कृत्रिम भी नहीं कहा जा

सकता। नई कविता से पाठक की उदासीनता के कारणों की अन्यत्र खोज होनी चाहिए।

लेखक ने आधुनिक कविता के सम्बन्ध में और तीन निबन्ध इस संग्रह में दिए हैं, पर उनमें उसकी पसन्द के दो ही कवियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है दिनकर और सर्वेश्वर दयाल का। वह भी प्रस्तुत प्रसंग में नहीं, अपितु एक नए ही प्रसंग में। दिनकर का प्रसंग उनकी पूर्वकाल की ओजमई रचनाओं और परवर्ती वेदनाप्लुत रचनाओं के संदर्भ में है। और आहत दुर्बलता के स्वाभिमान वाली सर्वेश्वर की कविताओं के समष्टि गत भाव-विम्ब की, और व्यंग्य द्वारा सत्य की गहरी सार्थक चोट करने की उसकी क्षमता के सम्बन्ध में लेखक की व्यक्तिगत स्पृहा ही अधिक उभरी है, और वह नई कविता के समग्र परिदृश्य के लिए नितान्त अपर्याप्त है।

यह तो हुई लेखक की अपनी बात के औचित्य की, जिसका उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्य में उसने स्पष्ट किया है, यानी आधुनिक हिन्दी साहित्य में बढ़ते जा रहे असंतुलन और जीवन मूल्यों की अल्पता का विवेचन, जिसके लिए लेखन के सीधे चार निबंधों का दिग्दर्शन कराया गया है। अपनी बात में लेखक ने आगे कहा है कि 'भक्ति साहित्य की उदात्तता से जुड़कर आधुनिक साहित्य और जीवन भी अधिक प्राणवन्त हो सकता है' और इसीलिए शेष निबन्धों के लगभग आधे निबन्ध भक्ति-साहित्य, मुख्यतया तुलसी-साहित्य के सम्बन्ध में हैं।— तुलसी-साहित्य सम्बन्धी सात निबन्धों में से दो निबन्ध 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास' तथा 'विनय पत्रिका में भक्ति मूला प्रपत्ति' क्रमशः 'तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में' और 'तुलसी संदर्भ और दृष्टि' नामक पुस्तकों में पहले प्रकाशित हो चुके हैं। तुलसीदास हिन्दी-साहित्य मर्मज्ञों के अवश्य ही चिर-प्रेरणा के स्रोत हैं, और उन्हें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखते रहकर भी विद्वानों की तृप्ति नहीं होती, उनमें परस्पर होड़-सी मची प्रतीत होती है कि कौन कितनी दूर की कौड़ी ला सकता है। मैं समझता हूँ, किसी भी साहित्यकार या कवि को, मूल्यों की सार्वकालिकता के नाम पर भी, अपने समय की चौखट से बाहर निकाल कर परखने से आत्मतुष्टि चाहे जितनी प्राप्त की जा सकती हो, रचनाकार के साथ न्याय नहीं हो पाता, और पाठक यदि छात्र या विद्यार्थी न हो तो व्यर्थ में जगाई हुई अतृप्त प्यास का दण्ड भोगता है। शास्त्रीयता की बीहड़ ऊहापोह में न जाकर आधुनिकता के नाम पर स्त्री-विषयक विचारों के लिए तुलसी-साहित्य का आधार लिया जाए तो सामान्य पाठक के मन में जो तस्वीर सहज उभरती है वह है 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी—ये सब ताड़न के अधिकारी।'—और आधुनिकता के नाम पर 'ढोल' को जाने दें तो भी शूद्र और मानवता के नाम पर पशु को कैसे ताड़न के अधिकार क्षेत्र में सहन किया जाएगा?—लेखक एक स्थान पर कहता है 'अपने राष्ट्र के सामुदायिद कल्याण के नाम पर दूसरे राष्ट्रों का शोषण और उसके लिए विश्वयुद्ध तक का उपक्रम तुलसी को अस्वीकार्य है।' अब इसी तथ्य को राम-रावण युद्ध के प्रसंग में देखिए। सामुदायिक कल्याण तो दूर, एक व्यक्तिगत-शिकायत के लिए एक विनाशकारी युद्ध को भी वे नहीं बचा सके, भले ही वह अन्याय के प्रतिशोध के लिए किया गया हो। अपने मत के आत्यंतिक आग्रह के कारण ही लेखक कहीं-कहीं अपने ही विरोध में उलझ गया है। जहां उन्हें 'जाने बिनु न होइ परतीती' की साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि तुलसी का 'श्रद्धा-विश्वास ज्ञान पर, अपरोक्ष अनुभव पर आधारित था, भेड़ियाधसान पर नहीं,' वहीं वे 'अतुलित महिमा वेद की, तुलसी किये विचार' को तुलसी की, परम्परा के उत्स के प्रति श्रद्धा को भी उचित बतलाते जाते हैं। इसी झोंक में लेखक ब्राह्मण विषयक तुलसी की रूढ़ पूज्य भावना की भी वकालत कर जाते हैं। और जहां उन्हें अपनी युक्ति सबल मालूम नहीं देती, वहीं वे कह बैठते हैं— 'क्या तुलसी के युग में यह सम्भव था?' जबकि दूसरी ही साँस में वे कहने को बाध्य होते हैं 'आधुनिक जीवन-पद्धति का एक बड़ा तत्व है समयनिष्ठा।'—आगे तो तुलसीदास के मुँह से ही 'मनुष्य की आवश्यकताएँ और प्रौद्योगिकी की आवश्यकताएँ, परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं' कहलाकर आधुनिकता के प्रयोजन को ही समाप्त कर देते हैं। संग्रह के पहले निबंध का शीर्षक है 'आधुनिकता की चुनौती

किन्तु विद्वान लेखक ने सचमुच तो अनायास ही आधुनिकता को चुनौती दे डाली है !

यह पूछा जा सकता है कि क्या तुलसीदास की आधुनिक-युग में लोकप्रियता इन बैसाखियों से टिकी हुई है ? यदि नहीं है तो उनके महत्व के कारण अन्यत्र खोजने होंगे। इन कृच्छ्र-कल्पनाओं के व्यायाम से अपना महत्व चाहे बढ़ाया जा सके तुलसीदास का नहीं। और स्वयं लेखक इस तथ्य से अज्ञात नहीं है। तुलसी विषयक उसके अन्य निबन्ध इस बात के प्रमाण हैं।

अन्य निबंधों में एक और निबंध भक्ति काल से संबंध रखता है, और वह है उस काल की उपधाराओं के नामकरण के संबंध में। दो और निबंध हैं मध्य युग के साहित्य के संबंध में, और इन दोनों निबन्धों से लेखक की राष्ट्रीयता से अधिक राजनैतिक रुझान का परिचय मिलता है। साहित्य के विद्यार्थी इनमें से पहले निबंध से तो लाभ उठा ही सकते हैं। वस्तुतः वह इसी उद्देश्य से लिखा गया है।

लेकिन बाद के चारों निबन्धों का प्रयोजन भी तो यही है। यह नहीं भूलना चाहिए कि लेखक एक विश्वविद्यालय में साहित्य का प्राध्यापक है, और एक दार्शनिक चिन्तन-प्रधान अभिधान देने के बावजूद इस संकलन का मूल उद्देश्य साहित्यिक चिन्तन के द्वारा अपने सहयोगी साहित्याचार्यों और अनुगत छात्रों की सूचना और लाभ के लिए इष्ट है। अवश्य ही वे साहित्यानुरागी दार्शनिक जो रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि' के नाम सादृश्य से आकर्षित होंगे उन्हें कुछ निराशा हो सकती है, किन्तु समीक्ष्य-ग्रन्थ को निबन्ध-गत गरिमा से वे भी कम प्रभावित नहीं होंगे। इन निबन्धों का साहित्यिक महत्व तो है ही।

आलोचना-साहित्य से सम्बन्धित इन निबन्धों में से अपने पहले निबन्ध में, जो प्रस्तुत संकलन के निबन्ध में वस्तुतः सबसे बड़ा है, लेखक ने द्विवेदी युगीन व्यवहारवादी हिन्दी आलोचना पद्धति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करके, अपने दूसरे निबन्ध में सर्वश्री महावीर प्रसाद द्विवेदी और बालमुकुन्द गुप्त की आलोचना के क्षेत्र में पारस्परिक नोक-झोंक का अच्छा मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है। अगले निबन्ध में लेखक ने पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की शास्त्रीयतावादी समीक्षा-पद्धति का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। यह निबन्ध लेखक ने, पृ० २०८ पर उद्धृत एक तिथि से स्पष्ट होता है कि अब से आठ वर्ष पूर्व लिखा था। कई दृष्टियों से यह निबन्ध महत्वपूर्ण है। एक तो लेखक आचार्य मिश्र का शिष्य रह चुका है, किन्तु अपनी श्रद्धा और प्रीति के अनियंत्रित प्रवाह में उसने अपनी समीक्षक-दृष्टि को कहीं खोया नहीं है। दूसरे, इसी निबन्ध में तत्कालीन सुप्रतिष्ठित धुरंधर समीक्षकों, जैसे रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामबिलास शर्मा आदि की समीक्षा-पद्धति पर प्रकाश प्रक्षिप्त कर उसने तुलनात्मक दृष्टि से मिश्रजी की समीक्षा को परखा है। इसी प्रसंग में आलोचना के कतिपय मूल सिद्धांतों की भी लेखकने सम्यक चर्चा की है। प्रकारांतर से यह तथ्य भी स्पष्ट होने लगता है कि लेखक स्वयं अपने आधुनिकतम मतवादों की अभिज्ञा के साथ कई मानों में मिश्रजी की परंपरा में ही अग्रसर हो रहा है। यहाँ तक कि शैली और विषय-प्रतिपादन के प्रकार में भी। यहीं पर हम शास्त्रीजी की 'सहृदयता' की व्याख्या 'प्रशस्त-हृदयता' से सर्वथा सहमत होते हैं।

आलोचना-क्रम का उनका अन्तिम निबन्ध है छायावाद के निरूपणकर्त्ता शांतिप्रिय द्विवेदी की प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा-पद्धति के विवेचन पर। इस पद्धति के गुण दोषों का सहानुभूति और सहृदयतापूर्ण संतुलित लेखा जोखा प्रस्तुत कर लेखक ने स्पष्ट किया है कि 'शांतिप्रियजी के साहसपूर्ण प्रयास में जीवन्तता और ताजगी निश्चित रूप से है, अतः यह सच है कि हिन्दी समीक्षा उससे समृद्ध हुई है।' इस बीच लेखक ने इस पद्धति पर किए जाने वाले अनेक आक्षेपों का युक्ति-युक्त उत्तर दिया है। लेखक सम्पूर्ण पुस्तक में केवल दो स्थानों पर कुछ असहिष्णु हुआ है एक तो जर्मन दार्शनिक नित्शे के प्रसंग में और एक श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' के प्रसंग में जबकि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद की सुझाई शृंगार काल की अभिधा की श्री सुमन द्वारा अस्वीकृति की चर्चा की गई है। वरना लेखक सर्वत्र व्यक्तिगत आग्रहों से

अपने आपको मुक्त रखने में बहुत कुछ सफल हो सका है।

लेखक ने प्रारम्भ में आधुनिकता के तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य में जीवन मूल्यों की अल्पता के जिन मुद्दों को उठाया, उन पर यदि विशद विवेचन प्रस्तुत किया जाता, तो पुस्तक की उपादेयता बढ़ जाती। किन्तु शायद यह संभव नहीं था। निबन्ध भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जब-तब लिखे गए थे और उनका संकलन प्रेस में देना अभीष्ट था। एक भूमिका की अपेक्षा थी, और उसमें सबकुछ समेट लेने का आग्रह था। 'अपनी बात' में स्पष्ट अभिमत को ध्यान में रखकर लेख यदि लिखे जाते तो बल ईप्सित विषय पर दिया जा सकता।

लेकिन ग्रन्थ एक दूसरे आयाम में सहज ही महत्वपूर्ण हो उठा है। सारे संकलन को पढ़ जाने के बाद एक तथ्य बार-बार मन में उठता रहा है कि हिन्दी की निबन्ध-विधा को एक समर्थ और प्रभावशाली लेखनी का स्पर्श मिला है। शुद्ध निबन्ध के तौर पर ही इन लेखों का पाठन बड़ा रुचिकर है। लेखक सचमुच एक विशिष्ट शैलीकार के रूप में विकसित होता चलता है। इस संदर्भ में लेखक द्वारा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के बारे में लिखा हुआ मत उन्हीं पर पूर्णरूप से लागू होता है, जब वे कहते हैं उनकी 'विषयानुरूप बदलती हुई लेखन-शैली अत्यंत प्रभावपूर्ण है। जब वे परंपरागत ज्ञान का परिवेशन करते हैं तब उनका प्राध्यापक रूप प्रधान हो उठता है' 'भाषा का समर्थ पाण्डित्यपूर्ण प्रयोग उनको बहुत बड़ी शक्ति है।' 'साहित्यिक पाण्डित्य और सरस विदग्धता का ऐसा मणिकांचन संयोग बहुत विरल होता है।'—अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ मिश्रजी के पक्ष में कहा गया है 'हिन्दी साहित्य के विविध कालों और विभागों पर उन्होंने अपने अमूल्य विचार प्रकट किए हैं, किन्तु विशेष रूप से शृंगार कालीन साहित्य के सम्यक बोध के लिए तो उनकी कृतियों का परिशीलन अनिवार्य है', वहाँ हम शास्त्रीजी के पक्ष में 'शृंगारकालीन साहित्य' के स्थान पर 'भक्तिकालीन और प्रमुख रूप से तुलसी-साहित्य' पद प्रस्थापित करना चाहेंगे, और तब भी यह तो है कि शास्त्री जी की प्रतिभा और रुचि के अनेक मार्ग अभी खुलने शेष हैं।

अपनी संस्कृतनिष्ठ-शैली में शास्त्रीजी ने कई नए शब्द दिए हैं, और कई शब्दों का अनूठा प्रयोग किया है जैसे 'फेनिल' (पृ० २३८), 'महीन काटना' (पृ० १८१), 'मकरध्वजी-उक्तियाँ' (पृ० ११८) आदि। अनेक अंग्रेजी पदों के सार्थक हिन्दी पर्याय भी उन्होंने दिए हैं, जैसे 'एक्सक्लूजिव्ह' के लिए 'अन्यापवर्जी' (पृ० ६८) 'साइड इफेक्ट' के लिए उपफल' (पृ० २५६), 'मीनिंगफुल डाईलॉग' के लिए 'सार्थक संवाद' (पृ० २१३), 'आउट आफ डेट' के लिए 'यातयाम' (पृ० १४३) 'टॉर्च बेअरर' के लिए 'शलाका पुरुष' (पृ० २२८) आदि।

पुस्तक का आवरण और मुद्रण विषयवस्तु की गरिमा के समान ही सुन्दर है। खटकने वाली बात है तो केवल मुद्रण की जगह-जगह अशुद्धियाँ, कहीं-कहीं तो भ्रम तक पैदा करने की स्थिति तक। किन्तु शायद हिन्दी पुस्तकों की यह नियति ही है। क्या उस दिन की आशा करना व्यर्थ होगा जबकि साहित्य से और छात्रों से संबन्ध रखने वाली हिन्दी पुस्तकों का मुद्रण निर्भ्रान्त हो?

(स० ओझा)

चिन्तन मुद्रा : ले० श्री विष्णु कान्त शास्त्री, प्रकाशक, नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली; १६७७. २२ सेमी०, मूल्य : ३२.००

ललद्यद

इसे एक विरोधाभास ही कहा जाना चांहिये कि जिस काश्मीर प्रदेश को हम भारतीय संस्कृति की मूल वाहिका संस्कृत-भाषा और साहित्य के विकास की मुख्य भूमि के रूप में जानते आए हैं उस प्रदेश की भाषा काश्मीरी का जन्म संस्कृत से न माना जाकर प्राचीन दरद और पिशाची भाषा से माना जाता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उसका संस्कृत-भाषा से कुछ मेल या आदान-प्रदान न रहा हो। काश्मीरी की प्रथम कवयित्री ललद्यद के वाख (पद) इस बात के प्रमाण हैं। 'वाख' या 'वाक' नामकरण शायद इसलिए हुआ

कि ये पद प्रारम्भ में मौखिक परंपरा में ही प्रचलित रहे, लिपिबद्ध इन्हें बाद में किया गया।

हिन्दीतर अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रन्थों की तरह काश्मीरी की इस प्रथम कवयित्री लल्‌द्यद के पदों का यह संग्रह भी नागरीलिपि में मूल, संस्कृत अनुवाद तथा हिन्दी अनुवाद भुवन वाणी ट्रस्ट लखनऊ ने अपनी गौरव शाली परंपरा में प्रकाशित किया है। इसमें लल्‌द्यद के अबतक प्राप्त १७६ पद संग्रहीत हैं, जिनका संस्कृत अनुवाद आचार्य श्रीरामजी शास्त्री द्वारा और हिन्दी अनुवाद तथा नागरी लिप्यंतरण डा० शिबनकृष्ण रैणा द्वारा किया गया है। लल्‌द्यद एक भक्त कवयित्री थीं, और उनके वाखों में दर्शन, ज्ञान, भक्ति की बड़ी ही मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से हम लल्‌द्यद की हिन्दी की महान भक्ति कवयित्री मीरा से तुलना कर सकते हैं।

कवि-कर्म या भक्ति-मार्ग ही में नहीं, जीवनक्रम में भी लल्‌द्यद का मीरा के साथ अद्‌भुत साम्य है। लल्‌द्यद भी पारिवारिक-संघर्षों में पिसकर वैराग्य-साधना में प्रवृत्त हुई, जबकि मीरा की भी बचपन की भक्ति ही बाद में पारिवारिक-संघात पाकर विकसित हुई थी। दोनों ही को गृहस्थ-सुख नसीब नहीं हुआ। लल्‌द्यद ने स्वयं ही कहा है न प्यायस, न जायस, न खेयम हंद तनें शोंठ' यानी न में प्रसूता बनी और न मैंने प्रसूता का आहार, सोंठ ही खाई।'

लल्‌द्यद काश्मीरी जनता में ललेश्वरी, ललयोगेश्वरी, लला लल ललारिफ़ा आदि नामों से परिचित है। 'द्यद' शब्द किसी भी आदरणीय प्रौढ़ा के लिये आदरसूचक शब्द है, जो शायद 'दादी' शब्द से ही बना हो। काश्मीरी में 'लल' का अर्थ 'तोंद' होता है, अतः यह भी खयाल किया जाता है कि लल का मूल नाम कुछ और ही हो। श्री गोपालनाथ रैना ने अपनी पुस्तक 'ललवाक्य' में उनका जन्मनाम पद्मावती बताया है।

लल्‌द्यद का जीवन-काल चौदहवीं शती का मध्यकाल माना जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि सन् १३३५ ई० में उनका जन्म हुआ और १३७६ तक वे अवश्य जीवित थीं।—वे श्रीनगर के निकट सिमपुरा गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मी थीं, और उनका विवाह बाल्यावस्था में ही निकट के पांपीरग्राम में एक प्रसिद्ध ब्राह्मण-वंश के युवक सोन पंडित से हुआ था। लल्‌द्यद को शिक्षा-दीक्षा अपने कुलगुरु श्री सिद्धमोल से प्राप्त हुई थी, जिसमें न केवल प्रारंभिक शिक्षा अपितु धर्म, दर्शन, ज्ञान, योग आदि के गुह्य रहस्य भी उन्हें प्राप्त हुए थे। लल का विवाहित जीवन सुखी नहीं था। सास उन्हें हमेशा कटु वचनों से दग्ध करती रहीं। यंत्रणाएँ भी उन्हें कम नहीं मिलीं। एक बार माँ के उकसाने पर पुत्र ने सिर पर जल भरा मटका लिए आती हुई पत्नी के सिर पर लाठी का प्रहार किया जिससे मटका तो फूट गया किंतु किंवदन्ती है कि पानी ज्यों का त्यों देवी के सिर पर टिका रहा। घर पहुँचने पर जो पानी बर्त्तनों में भरने से बच गया वह लल ने खिड़की के बाहर फेंक दिया, जहाँ एक तालाब बन गया, जो अब 'ललत्राग' के नाम से प्रसिद्ध है।

मीरा के बारे में प्रसिद्ध है कि जब वह प्रसिद्ध भक्त जीव स्वामी से भेंट करने पहुँची तो जीव स्वामी ने यह कहकर टाल दिया कि वे किसी नारी से मुलाकात नहीं करते। इस पर मीरा ने उत्तर दिया था कि वह तो समझती थी कि कृष्ण के भक्त अपने आराध्य की भक्ति गोपी-भाव से करते हैं और उन्हें ही परम पुरुष मानते हैं. यह जीव स्वामी कैसे भक्त हैं जो अपने आपको पुरुष मानने का दम्भ करते हैं ? लल्‌द्यद भी इसी तरह सब किसी को पुरुष नहीं मानती थी। अपनी भक्ति के आवेश में उन्हें प्रायः वस्त्रों की भी चिन्ता नहीं रहती थी। नाचती, गाती तथा आनन्दमग्न होकर विवस्त्र घूमती रहतीं। एक दिन उन्हें मार्ग में सामने से आते कहीं प्रसिद्ध सूफी संत मीर सैयद हमदानी मिल गए।—उसे एकाएक ध्यान हुआ कि वह विवस्त्र है, वह एक बनिए की दूकान पर पहुँची पर पास में एक नान बाई का तन्दूर जल रहा था, वह तत्काल उसमें कूद पड़ी। वहाँ पहुँचकर मुस्लिम संत ने आवाज दी 'ए लल, बाहर आओ, देखो तो कौन खड़ा है ?'—उसी क्षण लल प्रत्यक्ष हो गई सुन्दर परिधान से आवृत। इसी घटना पर एक

कहावत ही प्रचलित है 'आये वानिस तु गई काँदरस' यानी आई तो थी बनिए के पास किन्तु गई नानबाई के पास।

ऐसी ही विपरीत पारिवारिक स्थितियों में आत्मा का चिर उन्मेशित सत्य, लल्द्यद को ज्ञान और भक्ति के माध्यम से प्रत्यक्ष हुआ और उनकी वाणी में स्वतः प्रस्फुटित हुआ। वे पद वाख कहलाए जिन्हें काफी बाद में लिपिबद्ध किया गया।

लल्द्यद के १०६ पद सर्वप्रथम सर ज्यार्ज ग्रियर्सन ने पं० मुकुन्दराम शास्त्री की सहायता से सम्पादित कराके प्रकाशित करवाए थे। भुवन वाणी ट्रस्ट ने पहली बार लल्द्यद के सर्वाधिक वाखों (पदों) का यह संग्रह देवनागरी लिप्यंतरण के साथ ही संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर सचमुच एक अभिनन्दनीय कार्य किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के भिन्न परिवेश के बावजद भारत वर्ष की संस्कृति, दर्शन, विचारधारा, और जीवन-क्रम में सर्वत्र एकता है। तभी तो लल्द्यद की कविता में हम मीरा की भक्ति, कबीर का मस्तमौलापन, और योगियों के दर्शन के गूढ़ तत्व पाते हैं।

इस भव-सिन्धु में फँसी अपनी विवशता को कैसे मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त किया गया है—

आयस वते गयस न वते
सुमन सोथि मंज लूसुम दोह
चन्दस वुछुम त हार न अथे
नावि तारस दिम क्या बो।

मैं (इस संसार में) सीधी राह से तो आगई, किन्तु (मोह-माया में पड़कर) यहाँ से उसी सीधी राह लौट नहीं पाई। अभी बीच सेतु से गुजर ही रही थी कि दिन ढल गया। (साधना रूपी कमाई की) जेब में हाथ डाला तो देखा वहाँ एक कौड़ी भी नहीं। अब भला पार उतरने के लिए (नाविक को) दूँ तो क्या दूँ?

जगत की आलोचना की पर्वाह न करनेवाली की यह उक्ति देखिए—

आसा बोल कडिन्यम सासा
मे मनि वासा खीद ना हेये
बो योद सहज शंकर बखच आसा
मकरिस सासा मल क्या पेये

मेरे लिये चाहे कोई अपने मुँह से हजार गालियाँ भी क्यों न निकाले, मेरे मन के वासी को (आत्मा को) उससे किसी तरह का खेद नहीं पहुँचेगा। मैं अगर सहज शंकर की भक्त हूँ तो भला मेरे मन-दर्पण पर मैल कैसे जम सकती है?

काश्मीरी में एक मुहावरा है ग्यारह (ग्वालों) की देखरेख से गाय का भाग जाना। लल्द्यद ने इस मुहाविरे का आत्मचिन्तन में कैसा सुन्दर प्रयोग किया है?

क्याह कर पाँचन दहन त कहन
वो खशुन यथ लेजि करिथ यिम गये
सारी समहन यथ रजि लमहन
अद क्याजि राविहे कहन गाव

इन पाँच (तत्वों) दस (विकारों) और ग्यारह (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेंद्रिय और एक मन) का क्या करूँ? ये सब मेरी हँडिया (देह) को खाली कर गये (सभी भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर दौड़ रहे हैं)। काश! ये सभी मिलकर एक ही दिशा में रस्सी खींचते तो भला फिर ग्यारह की देखरेख रहते भी गाय कैसे भाग सकती थी?

एक जगह वैज्ञानिक तत्व की उक्ति देखिए 'सलिल को जब (अत्यधिक) शीत अभिभूत करती है तो वह जम जाता है, अर्थात् हिम बन जाता है। विमर्श से काम लिया जाय तो इन रूपों (सलिल जमने की क्रिया व हिम) में तत्वतः कोई भिन्नता नहीं है। जब चैतन्य (विवेकरूपी) सूर्य इन पर चमकेगा तो ये सब एक समान हों जाएँगे और तब जग बराबर शिवमय दिखाई देगा।'

आत्मा परमात्मा के अभेद का सुन्दर वर्णन:

यि यि करम कोरुम सु अरचुन
यि रसनि व्यचोरुम ती मंथर
योहय लोगमो दिहस परचुन
सय यि परम शिवुन तंथर

मैंने जो-जो कर्म किए वही मेरी अर्चना हैं, जो रसना से उच्चारित किया वही मेरे मंत्र हैं। देह से यदि कोई काम किया तो वह थी परिचय-प्रतिभिज्ञा (यह ज्ञान कि परमेश्वर और जीवात्मा एक हैं); और वास्तव में, परम शिव के तंत्र का सार भी यही है।

हठयोग की प्रक्रिया भी लल्द्यद को सहज थी वह इस बाख से प्रमाणित होता है।

शे बन चटिथ शेशि कल वुजम
प्रकरथ होन्जुम पवन सती
लीलकि नार वालिंज बुजम
शंकर लोबुम तमी सती।

छह वन (शक्ति के छह चक्र) लाँघ कर मैंने शशिकला को जगाया (अर्थात् सांसारिक बन्धनों को जब मैंने योगादि क्रियाओं से वश में कर लिया तब उस चन्द्रकला तक पहुँची जो परम शिव का स्थान है।) इसके लिए मुझे पवन (प्राणायाम) द्वारा अपनी प्रकृति को सुखाना पड़ा और प्रेमाग्नि (देवानुराग) से अपने कलेजे को भूनना पड़ा। तब कहीं जाकर मैं अपने शंकर को पा सकी।

इससे स्पष्ट होता है कि कुण्डालिनी को जागृत कर षड्चक्रों के मार्ग से ठेठ सहस्रार चक्र तक पहुँचाकर शिव तत्व को प्राप्त करने की हठयोगियों को प्रक्रिया लल्द्यद कर चुकी थी।

उद्धृत अंशों से पाठकों को यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि काश्मीरी संस्कृत से बहुत अधिक दूर नहीं है। जहाँ तक स्वयं पदों का प्रश्न है उनकी वृत्ति बड़ी प्रसादमाई और प्रवाहमई है। अनुवादित संस्कृत पदों को उद्धृत करने का लोभ हम संवरण कर रहे हैं, किन्तु संस्कृत-पद भी ऐसे लालित्यमय हैं कि उनका भी अलग से उपयोग किया जा सकता है। ऊपर ही के पद का संस्कृत पदानुवाद है।

कामादिकं काननषट्कमेत—
च्छित्वामृतं बोभमयं मयाप्तम्
प्राणादि रोधात् प्रकृतिं च भक्त्या
मनश्च दग्ध्वा शिवधाम लब्धम्।

आचार्य श्री रामजी शास्त्री के अतिरिक्त कुछ पदों का संस्कृत अनुवाद श्री राजानक भास्कराचार्य ने भी किया है, किन्तु सभी पदों में एक जैसा प्रसादगुण और लालित्य मिलता है, जिसके लिए सभी अनुवादक धन्यवादार्ह हैं!

ऐसी मनीषी कवयित्री के पदों को देश की अन्य भाषाओं के पाठकों और जिज्ञासुओं को देवनागरी लिपि द्वारा सुलभ करने के लिए प्रकाशक भुवन वाणी ट्रस्ट और विशेष रूप से उसके प्रमुख न्यासी सभापति श्री नन्दकुमार अवस्थी अभिनन्दनीय हैं, जिनके लिए प्रसिद्ध हिन्दी सेवी डा० बनारसीदास चतुर्वेदी का कथन है, 'जो कार्य अकेले श्री अवस्थीजी ने कर दिखाया है, उसे कोई साधन-सम्पन्न संस्था भी मुश्किल से कर सकती थी।'

स० ओझा

लल्द्यद—नागरी लिप्यंतरणकार और हिन्दी अनुवादक डा० शिबन कृष्ण रैणा, संस्कृत पद्यानुवाद आचार्य श्री रामजी शास्त्री। प्रकाशक, भुवन-वाणी ट्रस्ट, लखनऊ—२२६००३ पृ० ११४ मू० ७.००.

अथ इति के बीच

श्री बालकृष्ण बलदुवा हिन्दी में गत चार दशकों से बराबर साहित्य रचना करते आ रहे हैं। उनका प्रथम कविता-संग्रह 'गीत' नाम से १९३७ में प्रकाश में आया था। तब से उनके पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'अथ—इति के बीच' उनका छठा काव्य संग्रह है। बलदुवाजी ने गद्य-काव्य भी लिखे हैं, निबन्ध और कहानियाँ भी। स्पष्ट ही वे एक सजग साहित्यकार हैं।

प्रस्तुत संग्रह के बारे में उनका कथन है: "अथ की याद नहीं। इति जब सोचा था, तब लिखा जा सका नहीं। बीच ही बीच चलता रहा, चलता रहा। चल रहा है अब भी। जब जिन्दगी की नियति-गति है चलना ही चलना, तो जीवन के 'आँगन'-'प्रांगण' में 'धड़कन', 'अपने गीत' और मन के गीत' बनेगी ही। मन-मस्तक

के अद्वैत से द्वैत होने पर 'संताप' एवम् 'आदर्श, अवसाद और आस्था' की अनुभूतियाँ भी होंगी ही। यही सब 'विश्व-काव्य' में है। यही सब 'अथ-इति के बीच' है।" —विरामांकत शब्द बलदुवाजी की काव्य-रचनाओं के नाम भी हैं।

इस कथन से बलदुवाजी के काव्य-कथ्य का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है, इसमें नई कविता की भंगिमाएँ देखने की न किसी की आशा करनी चाहिए न प्रयत्न ही। संग्रह में छोटी-बड़ी ११० कविताएँ हैं, जिन्हें कवि ने दस भागों में उल्लिखित किया है। प्रथम 'अथ' शीर्षकोक्त अंश गद्यकाव्य समझिए या कविता की भूमिका, हालांकि अशीर्षक भूमिका का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। उसके बाद २८ कविताएँ: फिर दो और तीन शीर्षकों में क्रमशः आठ तथा दो कविताएँ, कश्मीरी शीर्षक के अन्तर्गत आठ कविताएँ, ४ हिन्दी गजलें, फिर षष्टपदियाँ, पंचपदियाँ, चतुष्पदियाँ, त्रिपदियाँ और द्विपदियाँ हैं। शेष हुआ है 'इति' शीर्षकोक्त कविता से।

कविताओं से जीवन-दर्शन के बारे में कवि के पक्ष में कोई राय नहीं बना ली जानी चाहिए। उसका आदर्श यदि है तो वह स्पष्ट, सनातनतावादी और उद्बोधन के रूप में :

'यौवन सीधी राह चलेगा
तुम बुजुर्ग बन लद न सकोगे यौवन पर,'

या फिर

भागोगे ?
छिः इसे सहेगा कैसे शौर्य तुम्हारा ?
कैसे भगकर ला पाओगे बतलाओ तुम न्याय।
और बतादो यह भी कैसे कर लोगे प्रतिकार।

× × ×

करो बुलन्द, गरज कर कह दो,
'न्याय हमारा स्वत्व।।'

लेकिन प्रारम्भ में रानी को सम्बोधित कर कुछ गीत कवि के अकेलेपन के द्योतक भी हैं—

रानी, भाव-अभाव सभी के, मेरे भी है!
मालिक ने दिया सभी कुछ
जो शरीर की भूख मिटाए
पर न तनिक भी दिया एक कण भी
जो मन की प्यास बुझाए
आज चाय के प्याले पर वह मूरत थिरक गई
जो सजीव हो सकी न तुम में
रह निर्जीव गई।

उमड़ पड़ा मन तत्क्षण ही फिर
आँखें उमड़ पड़ी
स्निग्ध रश्मि पर काली बदरी उमड़ी,
उमड़ गई।

जीवन-दर्शन के शीर्षक की ही एक चतुष्पदी

रम जाओ उनमें जिनमें
मालिक ने तुम्हें रमाया
छोड़ो ललचाई नजरों
देखना भव्य भवनों को।
उनका हररंग प्रलोभक,
अन्तर में दाहक माया,
वे धूल-धूसरित जिनने
जीवन का दर्शन पाया।

सूखे उद्बोधनों में, उपालम्भों या तथ्यात्मक-संदेशों में, आज के पैमानों से पद्य रचना हो सकती है, कविता नहीं, किन्तु यथार्थ दर्शन, सहज-अभिव्यक्ति, और अनुभूति से प्राप्त स्पष्ट उक्ति का भी साहित्य में कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।—उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक, लोक संग्रही और समष्टि मूलक है। कविता में प्रवाह है, और भाषा भावों के अनुकूल। जिन पाठकों की दृष्टि नई कविता की दुर्बोध भंगिमाओं से अतिक्रांत हो चुकी है, उनकी बात जाने दें तो सामान्य पाठक को इन कविताओं से अवश्य सन्तोष मिलेगा।

कृष्णावतार शर्मा

अथ-इति के बीच : कवि, वालकृष्ण बलदुवा, प्रकाशक : व्यवस्थापिका नन्हीं पुस्तकें, १८७६ कानपुर ५७/१५०, सिरकी मोहाल, पृ० सं० ८८, मूल्य : ३-००.

दाम्पत्य के घात-प्रतिघात

आधुनिक भारतवर्ष में पारिवारिक जीवन को ही नहीं, दाम्पत्य जीवन को भी वैषभ्य की एक गहरी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। यह स्थिति भारत में ही नहीं, कमोबेश सब देशों में मौजूद है, किन्तु अन्य देशों के नैतिक मानदण्ड ऐसे लचीले हैं कि वहाँ इन दबावों और आघातों को सामान्य-सा ही सही, अभिधान (कुशन) तो मिल ही जाता है, जिससे जीवन सहनीय होकर टूटने से बच जाता है चाहे ऐसे समाधान से अन्य दूसरी समस्याएँ ही क्यों न पैदा हो जाती हों। इस समस्याओं और स्ट्रेस तथा स्ट्रेन के पैदा होने का कारण शिक्षा के प्रसार से नारी जाति में जागृत अपने स्वतंत्र अस्तित्व की चेतना है। अब तक कृषि-सभ्यता से उत्पन्न मान्यताओं के अनुसार उसे पुरुष की और परिवार की सेविका की भूमिका मिली थी, उसे पातिव्रत्य और मातृत्व के लुभावने विशेषणों से अभिहित कर बहलाया भी जाता रहा। शिक्षा का उसे प्रयोजन नहीं है यह कह कर उसे अपने अधिकारों से अनभिज्ञ रखकर घर की चारदोवारों में ही कैद रहने को बाध्य किया जाता था। संयुक्त परिवार प्रणाली में वह परिवार के आन्तरिक बोझ और समस्याओं से इतनी ग्रस्त रहने को बाध्य थी कि उसके लिए अपने स्वतंत्र अस्तित्व का बोध भी खो चला था। औद्योगिक क्रांति से इस स्थिति में परिवर्त्तन हुआ और शिक्षा के प्रसार के साथ उसे अपने स्वतंत्र अस्तित्व की चेतना के साथ ही पुरुष के समान अधिकारों की आकांक्षा और उसके लिए संघर्ष की प्रेरणा भी हुई। इधर पुरुष, खासकर भारतीय पुरुष की नारी विषयक धारणाओं में अभी भी किसी तरह का बदलाव नहीं आ पाया है। फलतः वह अभी भी अपने को परिवार का स्वामी, नारी से श्रेष्ठ, दाम्पत्य में नारी से श्रेष्ठतर हिस्सेदार, और नारी का रक्षक समझता है। नारी के आर्थिक रूप से पुरुष पर अवलंबित होने के कारण उसकी उस भावना में और शह मिलती है। दाम्पत्य में जब एक अंशीदार अपनी स्वतंत्रता को जाने या अनजाने तरजीह देने लगता है तो वहीं संकट की स्थिति पैदा हो जाती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस संकट के प्रमाण प्रचुरता से मिलते हैं।

अभी कुछ दिन पूर्व प्रकाशित डॉ० मोतीलाल जोतवाणी द्वारा लिखित 'पीली बत्ती पर' और दीप्ति खंडेलवाल लिखित 'कोहरे' उपन्यासों में दाम्पत्य की इसी समस्या को उकेरा गया है।

डॉ० जोतवाणी के 'पीली बत्ती पर' उपन्यास के नायक मनोहर की पत्नी एक पुत्री की माँ, पर्याप्त शिक्षिता, आधुनिक और अपनी नन्हीं सी गृहस्थि में सुखी और पतिगत प्राण नारी है। पति एक संवादपत्र के कार्यालय में नियुक्त है। विलम्ब से एक शाम उसके घर लौटने पर पत्नी उदास हो जाती है। उसकी उदासीनता से पुरुष का अहंकार आहत होता है और वह तभी पत्नी और पुत्री की उपेक्षा कर अपने मनोरंजन के साधन जुटाने के लिए बाहर निकल पड़ता है। मनोरंजन केन्द्र के अनुभव से उसे विरक्ति होती है, और पचास रुपए खर्च करके वह देर रात घर लौट आता है। कई आशंकाओं में डूबी हुई पत्नी की पति की इस कैफियत से दिलजमई हो जाती है कि वह सेकण्ड शो देखकर आया है। लेकिन सबेरे ही पति की जेब में मनोरंजन केन्द्र का पचास रुपए का बिल देखकर रजनी का आक्रोश लौट आता है। वह सोचती है कि क्या यह छल-प्रपंच इसीलिए नहीं है कि वह आर्थिक दृष्टि से पति पर निर्भर करती है, और वह अपनी आमदनी इच्छानुसार खर्च कर सकता है? चाय पर पति से सवाल-जबाब में उस पर आभासित होता है कि गृहस्थि में जितने काम उसे करना पड़ते हैं, वे सब सेवाएँ, मनोरंजन और सहवास तक, पति को अन्यत्र पैसा खर्च करने से मिल सकते हैं तो इतने से के लिए पत्नी ही पति की दासी क्यों रहे?—और वह तभी निश्चय कर लेती है कि वह भी कहीं नौकरी करके आत्म निर्भर हो जाएगी।—उसी दिन पति को एक दिन की छुट्टी लेने का कहकर वह नौकरी की खोज में जाती है, और नौकरी पा भी लेती है।

गृहस्थि के कार्यक्रम में व्यतिरेक पड़ जाता है। गृहस्थि की गाड़ी झटके खाने लगती है। पुत्री के ऊपर ध्यान कौन दे? पुरुष या स्त्री? पत्नी ही क्यों, यदि वह भी कमाती है,? पति क्यों नहीं? दाम्पत्य क्या सहवास, मनोरंजन और इन सेवाओं

तक ही सीमित है ?—पुरुष अपनी गलती महसूस करता-सा लगता है और नारी पिघलती है।—क्या वह नौकरी छोड़ कर पुनः आर्थिक रूप से पुरुष की वशवर्त्तिनी हो ? पुरुष के प्रकृत-अधिकार का नाग फिर अपना फण उठाना चाहे तो पत्नी क्या करे ?—वह अपनी सोने की गृहस्थि को समाप्त होने दे या विद्रोह जारी रखे ? क्या पुरुष की सफलता के लिए उसके घर में नारी को 'फुल टाइम' पत्नी होकर ही रहना पड़ेगा ? वह पीली बत्ती पर आ खड़ी हुई है, उसके मन्तव्य के पथ पर सामने अब लाल बत्ती जलेगी या हरी बत्ती ? हरी बत्ती हुई तो न जाने कौनसा रास्ता खुलेगा ?—और आगे चलकर भी तो ऐसे चौराहे कई हैं !

दीप्ति खण्डेलवाल के उपन्यास 'कोहरे' की समस्या भी यही है। पर नायिका स्मिता को लेखिका ने पीली बत्ती' पर लाकर नहीं छोड़ा है। वह भी एक बच्चे की माँ है, पर पति के अहं से अपने अहं को टकरा देने से नहीं झिझकती। टकराव के फलस्वरूप वह अपने माता-पिता के पास लौट आती है और माँ के पतिगत-प्राणादर्श से अत्यंत प्रभावित होने के बावजूद अन्त में जाकर अपने पूर्व प्रेमी प्रशांत को अपनी सर्द हथेली कसकर पकड़ लेने देती है। उसका बर्फ पिघल जाता है।—उसकी समस्या का, लगता है, हल मिल गया है। पर हल क्या सचमुच मिल गया है ?—अपने पूर्व पति सुनील को वह प्यार करती थी, सुनील भी प्रारम्भ में उसे प्यार करता ही था। समस्या थी तो यही कि दोनों के अहम् प्रबल थे, और स्मिता परावलम्बी थी। वह अब भी परावलम्बी है। क्या पता, प्रशांत का अहम् भी उतना ही प्रबल न हो, और स्मिता के सामने अपने अहम् को लेकर फिर समस्या खड़ी हो जाए ?

'पीली बत्ती पर' का कथानक कसा हुआ है, उसमें अन्विति है, और लेखक की अणुवीक्षक दृष्टि पति-पत्नी के प्रत्येक व्यापार का प्रारम्भ से लेकर अंत तक सूक्ष्म विश्लेषण करती चलती है। दांपत्य जीवन के कोमल से कोमल तन्तुओं को उठाकर वह रजनी ही को पीली बत्ती पर नहीं ले आया है, सारे दाम्पत्य जीवन के सम्मुख उसने सब बत्तियाँ गुल करके पीली बत्ती सरका दी है। गृहस्थि की समस्या सामने रखकर उसने यह भी प्रकारान्तर से बता दिया है कि क्या आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भता इसका हल हो सकती है ? अवश्य ही आगे की बत्ती का स्विच नायिका के हाथ में है लेकिन लाल या हरी बत्ती करने के पहले उसे स्वयं निर्णय करना होगा कि वह अपने अहम् की तुष्टि चाहती है, या दो अहम् को मिलाकर एक नई सृष्टि चाहती है ? अवश्य ही इस मेल में कुछ टकराहट होगी, पटरी के ठीक तरह बैठने के पहले दोनों ओर अहम् का कुछ क्षरण होगा। वरना स्मिता की तरह आरजी तौर पर एक समाधान पाकर, दूसरी समस्या की तैयारी करनी होगी।

कोहरे का कथानक व्यापक है। उसमें स्मिता के माता-पिता और भाई भी हैं। स्मिता स्वयं अपनी कथा कहती है। आत्म-कथा की कुछ सीमाएँ कथा तत्व को बहुत कुछ अप्राकृतिक भी बना देती हैं। नायिका अपनी कथा किससे और क्यों कह रही है ? फिर कई बातें जो अपने बारे में वह प्रकट करती है, जैसे अपनी शिक्षा के बारे में, रूप-सौन्दर्य के बारे में बेतुकी लगती हैं। पतिगत-प्राण अपनी माता के चरित्र से वह बड़ी प्रभावित होती है। पर अन्ततक उसकी राह नहीं चल पाती। फिर एक बड़ा अन्तर भी तो है। माँ का अपने पूर्व प्रेमी से विवाह जो नहीं हुआ था। बहुत जगह अंग्रेजी का प्रयोग अनावश्यक लगता है। इधर अपने भाई निशीथ और एन्जेला के प्रेम-विवाह की असफलता की भी स्मिता की समस्या से कोई समानता नहीं है। उस समस्या से भारतीय दाम्पत्य की समस्या को कुछ लेना-देना भी नहीं है। तलाक उस समस्या का उपधान है ही। लगता है लेखिका की समस्या के ऊपर दृष्टि तो थी किन्तु लिखने के लोभ में वह कथानक को व्यापकता देने से अपने आपको रोक नहीं सकी। यों उपन्यास रोचक है, और पाठक ऊबेगा नहीं।

डा० जोतवाणी के उपन्यास के साथ सात लघु कथाएँ भी दी हुई हैं। संग्रह की अन्तिम कहानी 'धरती से नाता' सिन्ध से उद्वस्त होकर आए वसंताणी की उस प्रतिक्रिया

(शेष पृष्ठ ४१ पर देखिए)

(इस स्तंभ में किसी भी विषय के श्रेष्ठ, नये दृष्टिकोण से लिखे या किसी पुस्तकालय में स्थाई रूप से स्थान पाने के अधिकारी ग्रंथ सटिप्पण प्रस्तुत हैं। प्रकाशकों और विषय-विशेष के प्रेमियों से अनुरोध है कि वे कृपया इस स्तंभ को ध्यान से देखें और महत्वपूर्ण स्तरीय प्रकाशित ग्रंथों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें। लेखक के नाम के सामने यथासंभव जन्म और मृत्यु वर्ष दे दिया गया है। पुस्तकों के नाम के बाद प्रकाशक विवरण, पृष्ठ संख्या (भूमिका और पुस्तक के पृष्ठ) और अंत में पुस्तक की लंबाई तथा मूल्य हैं। पृष्ठ और आकार का विवरण पुस्तकालयों में सूचीकरण-कार्य में सुविधा की दृष्टि से दिया गया है। कोष्ठक में विषय का स्पष्टीकरण, विषय-सीमा या विशेषता आदि की ओर संकेत है।—संपादक)

अंग्रेजी

मुरलीदास मेलवाणी
थीम्स इन इंडो-एंग्लिअन लिटरेचर. बरेली, प्रकाश बुक डिपो १९७७. १२-११९-७ पृ० २२ सेंमी० २०-०० (भारतीय अंग्रेजी लेखकों और रचनाओं पर २५ निबंध)

मीनाक्षी मुखर्जी सं०
कन्सिडरेशन्स. नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स, १९७७ १५२ पृ० २२ सेंमी० ३०-०० (भारतीय अंग्रेजी-लेखकों पर १२ विभिन्न लेखकों के निबंध)

मुखर्जी सुजीत
टुबर्ड्स ए लिटररी हिस्टरी ऑफ इण्डिया. शिमला, इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ एड्वान्स्ड स्टडो १९७६, १०३ पृ० २४ सेमी० २६-०० (भारत के साहित्यिक इतिहास और उसके लेखन की योजना पर विवेचन)

हरबिलास शारदा १८६७-१९५५
हिन्दू सुपीरिऑरिटी. नई दिल्ली, हिन्दू-एकेडमी १९७५ (तृ० सं०) ४१२ पृ० २२ सेंमी० ६७-०० (हिन्दुओं की श्रेष्ठता पर विवेचन)

बी० कुप्पुस्वामी
कम्युनिकेशन एण्ड सोशल डेवेलपमेंट इन इण्डिया. नई दिल्ली, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड १९७६, ३६४ पृ० २२ सेमी० ७०-०० (भारत में संचार-साधन और सामाजिक विकास के विषय में सूचनात्मक ग्रन्थ)

बल्दून धींगरा
सर्च फार रूट्स. चंडीगढ़, पब्लिकेशन्स ब्यूरो, पंजाब यूनीवर्सिटी १९७७, १४२ पृ० २२ सेमी० ३०-०० (पंजाब यूनिवर्सिटी में १९७४ में प्रो० धींगरा द्वारा कला, साहित्य और संस्कृति पर दिए गए दस भाषणों का संग्रह)

आबिदी, एस० ज़ेड़० एच०
नेक्टार इन ए सीव्ह. बरेली, प्रकाश बुक डिपो १९७६-७७ १२७ पृ० २२ सेमी० ७-०० (कमला मार्कण्डेय के इसी नाम के उपन्यास का आलोचनात्मक अध्ययन)

कौल, ओंकार एन० १९४१—
लिंग्विस्टिक स्टडीज इन कश्मीरी. नई दिल्ली, बाहरी पब्लिकेशन्स १९७७, १०४ पृ० २२ सेमी० २५-०० (कश्मीरी भाषा के विभिन्न पक्षों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन)

गुजराती

बाबू भाई प्रा० वैद्य
रेतमां बहाण. अहमदाबाद, सस्तुसाहित्य मुद्रणालय १९७७ पृ. ४९९, १९ सेमी० १२-५० (श्री कुवरभाई वि० मेहता के आजादी की लड़ाई के संस्मरण)

कोकुभाई रतनजी देशाई सं०
गुजराती ग्रन्थ सूची अहमदाबाद, गुजरात पुस्तकालय मंडल १९७५, १८५ पृ० २८ x २१ सेमी० १०-०० (सन् १९५१ से १९६५ तक प्रकाशित गुजराती पुस्तकों की सूची)

धीरू बहेन पटेल
'शीमलानाँ फूल मुंबई, एन० एन० त्रिपाठी प्रा० लि० १९७६, २५८ पृ० १९ सेमी० मू. १२-७५ (उपन्यास)

गुलाब दास ब्रोकर सं०
आपली श्रेष्ठ नवलिकाओं, मुंबई, एन० एन० त्रिपाठी प्रा० लि० १९७६, ३०२ पृ० १९ सेमी० ८-०० (२१ कहानियों का संग्रह)

अरविन्द नर्मदाशंकर शास्त्री
ऐना, मुंबई, एन० एन० त्रिपाठी प्रा० लि० १९७६ पृ० ३९५, १९ सेमी० १९-०० (उपन्यास)

चन्द्र वदन मेहता
ध्रुव गठरियां मुंबई, एन० एन० त्रिपाठी प्रा० लि० १९७६ पृ० ४५१, १९ सेमी० २१-०० (स्वतन्त्र लेखों का संग्रह)

प्रतापराय त्रिवेदी सं०
कच्छी धातु कोश. मुंबई, मांडवी, हवेली चौक १९७५ पृ० ८८, २२ सेमी० ५-०० (कच्छी उपभाषा के धातुओं की सूची)

पंजाबी

बलदेव सिंह १९४३—
दूसरा हिरोशिमा, कलकत्ता-७०० ०२५ पंजाबी साहित सभा पच्छमी बंगाल १९७७ पृ. ५८, २२ सेमी. ४.०० (उपन्यास)

बलदेव सिंह सं० १९४३—
पूरब दीयां किरनां, कलकत्ता-७०० ०२५ पंजाबी साहित सभा, पच्छमी बंगाल १९७७ पृ. ९२, २२ सेमी. ८.०० (पूर्वांचल के १४ पंजाबी के कवियों की कविताओं का संकलन)

बंगाली

शाहाबुद्दीन आहमद
नजरुल साहित्य विचार ढाका, मुक्तधारा १९७६, ३८४ पृ० २२ सेमी० २५-०० (काजी नजरुल इस्लाम विषयक विवेचनात्मक निबन्ध)

आबदुल हाफिज
आधुनिक साहित्य चर्चा ढाका, मुक्तधारा १९७६, १५४ पृ० २२ सेमी० १०.०० (साहित्यिक निबन्धों का संकलन)

असीम शाहा
प्रगतिशील साहित्येर धारा ढाका, मुक्तधारा १९७६, १०४ पृ० २२ सेमी० ८.०० (साहित्यिक निबन्धों का संग्रह)

शफीउद्दीन आहमद
वृत्ताबद्ध रवीन्द्रनाथ ढाका, मुक्तधारा १९७६ १२४ पृ० २२ सेमी० १०-०० (रवीन्द्र साहित्य विषयक विवेचनात्मक लेख संग्रह)

काजी मोताहर हुसैन
निर्वाचित प्रबन्ध, ढाका, मुक्तधारा १९७६, १९७ पृ० २२ सेमी० १५.०० (साहित्यिक निबन्ध-संग्रह)

मुश्ताफिजूर रहमान
विदेशी सेरा गल्प, ढाका, मुक्तधारा १९७६, १३६ पृ० २२ सेमी० ९.०० (विदेशी कथाकारों के गल्पों का बंगाली अनुवाद)

सूफिया कामाल
स्वनिर्मित कविता-संकलन ढाका, मुक्तधारा १९७६, १५३ पृ० २२ सेमी० १३.०० (कविता-संकलन)

कुर्रतुलऐन हैदर
वह्नि सागर अनु० आशीष सिन्हा नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट ३९५ पृ० २० सेमी० १९७३ (हिन्दी उपन्यास 'आग का दरिया, का बंगला अनुवाद)

श्रीलाल शुक्ल
रागदरबारी अनु० रमेन मजूमदार नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, १९७६, १२-४४१ पृ० २२ सेमी० १५.७५ (हिन्दी उपन्यास का बंगला अनुवाद)

अरुण कुमार मुखोपाध्याय
उनविंश शताब्दीर बंगला गीतिकाव्य कलकत्ता, जिज्ञासा १९७०, ३४३ पृ० २२ सेमी० १२.००

बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय
ईश्वरचन्द्र गुप्तेर जीवन चरित ओ कवित्व, सं० भवतोष दत्त, कलकत्ता, जिज्ञासा १९६८ ३९-३५२ पृ० २२ सेमी० २२.००

दाशगुप्त अलोकरंजन
गिलोटिन आलपना कलकत्ता, प्रतीक ३/१७ अरविन्द नगर १९७७, पृ० ७१, २२ सेमी० ५.०० (५४ कविताओं का संग्रह)

मलयालम

कृष्णन नायर, एम० १९२३—
सौंदर्यदृष्टिण्टे सन्निधानट्टिल, कोट्टायम डी०सी० बुक्स १९७७, १२० पृ० १८ सेमी० ४-०० (११ साहित्यिक निबंधों का संग्रह)

नारायण पणिक्कर, कावालम, १९२८—
देवत्तार, कोट्टायम, साहित्य प्रवर्त्तक १९७६, ८८ पृ० १८ सेमी० ३-०० (एक प्रयोगात्मक नाटक)

त्रिविक्रमन नमपूतिरिप्पाटु टी०एम०१९२२—
व्यास प्रणामम्, कोट्टायम, साहित्य प्रवर्त्तक १९७६, २०० पृ० १८ सेमी० ६-०० (महाभारत पर आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

थामस थामस, १९४५—
विषभूमि कलिल मयण्णुन्नवर, कोट्टायम, डी० सी० बुक्स १९७७, २५६ पृ० १८ सेमी० ७-०० (एक औद्योगिक संस्थान के अधिकारी की भूमिका पर पुरस्कृत उपन्यास)

सादिक हिदायत १९०३—
कुरुतन मुन्न. अनु. वेलासिनी, कोट्टायम, डी. सी. बुक्स १९७७, १५८ पृ० १८ सेमी० ५-०० (फारसी के बुंगे खुर उपन्यास का अनुवाद)

हिन्दी

डा० विष्णुदत्त राकेश १९४१—
रीतिकाल के ध्वनिवादी हिन्दी आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन इलाहाबाद, साहित्य भवन (प्रा.) लि. १९७७, पृ. ३५१ २२ सेमी० ३०-०० (ध्वनि सम्प्रदाय और उसके आचार्यों पर शोधपूर्ण निबंध)

बेरनादे दे सेंपियेर
अमर प्रेम, रूपांतरकार प्रह्लाद रामशरण दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स १९७७, पृ. ११०, १९ सेमी० ८-०० (मारीशस की पृष्ठभूमि पर मूल फ्रेंच में १८वीं शती में लिखे अंग्रेजी उपन्यास 'पाल एण्ड वर्जिनी' का अनुवाद)

डॉ० फुलगेंदा सिन्हा
योग द्वारा रोगों की चिकित्सा दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स १९७७ पृष्ठ १६३, १९ सेमी. १०-००

एल० एस० शेषगिरि राव सं०
कन्नड़ लघुकथाएँ, अनु गुरुनाथ जोशी, नई दिल्ली, साहित्य अकादेमी १९७७, पृ २९६ १९ सेमी. १५-०० (२२ कन्नड़ लघु-कथाओं का अनुवाद)

कृष्ण स्वामीनाथन
रमण महर्षि अनु. रामनाथ शास्त्री, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट १९७७ पृ. १७८, १८ सेमी. ५-०० (जीवन और बचनामृत)

प्रो० ब्रजकुमार सिंह
हिन्दी-मणिपुरी कोश सं. ब्र. बि. कुमार एवं प्रो. एस. यदुमनि सिंह. कोहिमा, नागालैंड भाषा परिषद १९७७, पृ. २९४, २२ सेमी. ८-००

एम० चलपति राव
समाचार पत्र, अनु. वासुदेव शर्मा नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट १९७७, पृ. २२७, २० सेमी. ११-०० (अंग्रेजी की बहुचर्चित मूल पुस्तक 'दी प्रेस' का हिन्दी अनुवाद)

एम० अतहर अली
औरंगजेब कालीन मुगल अमीर वर्ग. अनु० डा० राधेश्याम, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन १९७७ पृ० ४१०, २२ सेमी० ४२.०० (तत्कालीन अमीर वर्गों के संगठन, संख्या आदि पर शोधपूर्ण प्रबन्ध और १००० के मनसब से ऊँचे ५७५ मनसबदारों के नाम, उपाधि, जन्मभूमि, वर्ग, उपवर्ग आदि के बारे में उपयोगी शोध अंग्रेजी में)

डॉ. मोतीलाल जोतवाणी १९३६—
पीली बत्ती पर, दिल्ली, विश्वासनगर, राष्ट्र भाषा प्रकाशन १९७७ पृ० ११२, १८ सेमी० ८.०० (लेखक का एक लघु उपन्यास साथ में सात कहानियाँ)

डॉ. किशोर काबरा
सारथि, मेरे रथ को लौटा दे, अहमदाबाद ३८०००१, अभिनव भारती, १९७६ पृ० १०४, २२ सेमी० १०.०० (कवि का चौथा काव्य संग्रह)

के० राघवन पिल्ले सं०
मलयालम एकांकी, अनु. सुधांशु चतुर्वेदी, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट १९७७, पृ. ११-२०६, २० सेमी. ९-०० (मलयालम के विभिन्न लेखकों के १२ एकांकियों का अनुवाद)

डॉ. भोलाशंकर व्यास १९२४—
साहित्य का इतिहास लेखन : समस्या-समाधान उदयपुर, राजस्थान साहित्य अकादमी १९७७ पृ. ९१, २३ सेमी. ६.५ (लेखक के तीन व्याख्यानों का संकलन)

भगवतीलाल व्यास
शताब्दी निरुत्तर है ! उदयपुर, राजस्थान साहित्य अकादमी १९७७ पृ. ८८, २२ सेमी. ७.५० (कवि की ८८ कविताओं का संग्रह)

डॉ. चन्द्रदत्त पालीवाल
भाषा इण्डोनेशिया (नागरी लिपि में) नई दिल्ली, नागरी लिपि परिषद १९७७ पृ. २८८, २२ सेमी. २०.००

हरप्रसाद राय
हिन्दी चीनी प्राइमर (नागरी लिपि में) नई दिल्ली, नागरी लिपि परिषद १९७५ पृ. २३६, २२ सेमी. २०.००

आचार्य धर्मेन्द्रनाथ
आधुनिक फ़ारसी (नागरी लिपि द्वारा) प्रथम भाग नई दिल्ली, नागरी लिपि परिषद १९७७ पृ. १९२, २२ सेमी. ४०.००

बण्डार मणिके दसनायक
सिंहल स्वयं शिक्षक (नागरी लिपि में) नई दिल्ली, नागरी लिपि परिषद १९७७ पृ. १२०, २२ सेमी. १०.००

दीप्ति खण्डेलवाल
कोहरे, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज काश्मीरी गेट, १९७७ पृ. १०२, १८ सेमी. मू० ८.०० (उपन्यास)

राजेन्द्र अवस्थी
कालचिंतन, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज, काश्मीरी गेट १९७७ पृ. १७३, १८ सेमी. १२.०० (लेखक के मुक्त चितन)

अज्ञेय, सच्चिदानन्द वात्स्यायन १९११—
महावृक्ष के नीचे, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, १९७७ पृ० ९२, २२ सेमी० १०.०० (१९७४-७६ की कविताएँ)

शांता कुमार १९३४—
मन के मीत, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, १९७७, पृ० १७६, १८ सेमी० १०.०० (उपन्यास)

कुट्टन पिल्ले डा० एन० पी० १९३६—
अध्ययन और अनुसंधान, आगरा, प्रगति प्रकाशन, बैतुल बिल्डिंग, १९७५ पृ० १५६, २२ सेमी० १४.०० (२० साहित्यिक निबन्धों का संग्रह)

शर्मा, डा० सरनाम सिंह 'अरुण' १९१७—
जब मौत मेरे पास आई, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, १९७६, पृ० १४८, १९ सेमी० १०.०० (संस्मरण)

भवानी प्रसाद तिवारी
कामता प्रसाद गुरु, भोपाल, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, १९७६, पृ० १४८, २२ सेमी० १५.०० (जीवन और प्रतिनिधि रचनाएँ)

भालेराव एस० एस० सं०
विधान मंडलों के द्वितीय सदन—राज्य सभा के २५ वर्ष, नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९७७, पृ० १७-३४८, २५ सेमी० ८०.००

अंग्रेजी

शंकर नारायण, एस० १९२६—
दी विष्णु कुण्डीज एण्ड देअर टाइम्स, दिल्ली, आगम प्रकाशन, १९७७, २३-२७८ पृ०, २४ सेमी० मूल्य १००-०० (दक्षिण के विष्णुकंडी वंश विषयक शोध (कर्नाटक वि० वि० द्वारा स्वीकृत प्रबन्ध)

सहाय सच्चिदानन्द
दी रामायण इन लाओस, दिल्ली, बी० आर० पब्लिशिंग कारपोरेशन, १९७६, भूमिका सुनीति कुमार चटर्जी, १९-१४८ (१६) पृ०, २३ सेमी० मूल्य ७५-०० (मूल लिपि दी ग्वाय द्वौड़ाहवी सहित)

भारत की सभी भाषाओं की सामान्य सांस्कृतिक विचार निधि को परस्पर उद्घाटित करने के लिए परिषद ने भारतीय वाङ्मय में वैष्णव साहित्य विषय पर संबंधित भाषा के विद्वान साहित्यकारोंकी भाषणमाला का आयोजन किया था, और उसमें बंगला तथा संस्कृत वाङ्मय में वैष्णव साहित्य पर ४ भाषण भी आयोजित हुए थे। इसी बीच यह अनुभव किया गया कि पारस्परिक आदान-प्रदान को और भी सहज करने के लिए विभिन्न साहित्यों की मूल और समसामयिक प्रवृत्तियों से परिचय इस दिशा में आधारिक और अधिक कारगर उपाय होगा, और इस दृष्टि से पुणे विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के तत्कालीन रीडर डॉ० न० चिं० जोगलेकर को 'आधुनिक मराठी साहित्य और उसकी विविध प्रवृत्तियाँ' विषय पर दो भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया।

डॉ० जोगलेकर पूना से ७ अक्टूबर १९७७ को प्रात: काल कलकत्ता पहुँचे और उसी दिन संध्या को ६ बजे से उनके द्वि-दिवसीय भाषणमाला का उद्घाटन हुआ। परिषद के मन्त्री श्री परमानन्द चूड़ीवाल ने माननीय अतिथि वक्ता का तुमुल हर्षध्वनि के बीच स्वागत किया और माल्यार्पण के उपरान्त उन्हें अपना भाषण प्रारम्भ करने का निवेदन किया।

अपने स्वागत का समुचित उत्तर देकर डॉ० जोगलेकर ने अपने पहले दिन के भाषण में आधुनिक मराठी साहित्य की भूमिका पर प्रकाश डालकर नाटक और काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख और विवेचन प्रस्तुत किया। अपने लिखित भाषण को पढ़ते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में आधुनिकता का बोध भिन्न प्रकार का होने से मराठी साहित्य में उसकी विविध छटाएँ प्रतिबिम्बित हुईं। पुनर्जागरण और राष्ट्रवाद की रचनाओं द्वारा लोकमान्य तिलक, आगरकर, चिपलूणकर, परांजपे, स्वातंत्र्यवीर सावरकर आदि साहित्यकार आवश्यक भूमिका तैयार कर चुके थे, इसमें अंग्रेजी शिक्षा द्वारा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से जीवन की ओर देखने की नई दृष्टि भी उद्भूत हो चुकी थी। लोकमान्य तिलक का 'केसरी' और आगरकर का 'सुधारक' समाज में क्रमशः राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक सुधार का मंत्र फूँक रहे थे। इसी पृष्ठभूमि पर केशवसुत जैसे कवि और ह० ना० आपटे जैसे उपन्यासकारों ने मानव मात्र की मनोवृत्तियों को पहचान कर साहित्य सर्जन किया। सर्वश्री केतकर, सावरकर, केलकर, आदि मराठी के दिग्गज साहित्यकारों के अवदान का उल्लेख कर के विद्वान वक्ता ने श्री कृ० प० खाडिलकर के नाटकों पर प्रकाश डाला और राम गणेश गडकरी के भावनात्मक अतिशय्य से ओतप्रोत नाटकों की चर्चा की। इस संदर्भ में वरेरकर, आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे, राँगणेकर आदि के विविध विषयों के नाटकों की भी श्री जोगलेकर ने चर्चा की।

कविता के क्षेत्र में पेशवाई के बाद पंडित कवियों के अवदान का उल्लेख करते हुए वक्ता महोदय ने केशवसुत, रा० बा० तिलक, गोविन्दाग्रज, विनायक और बालकवि की काव्य-प्रतिभा पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि भावोत्कटता तथा गेय कविता के क्षेत्र में भा० रा० ताँबे का काव्य कई दृष्टियों से विशिष्ट है। उन्होंने 'रवि किरण मण्डल' युग के प्रसंग में सर्वश्री द० ल० गोखले, बा० रानडे, माधव ज्यूलियन, गिरीश कानिटकर, य० दि० पेंढरकर, यशवंत आदि कवियों की चर्चा करते हुए

बताया कि इन कवियों ने गेय गजलें लिखीं, खण्ड काव्य रचे और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध भी आवाज बुलन्द की। इस तरह मराठी कविता को नया मोड़ देने में माधव त्र्यंबक पटवर्धन, माधव ज्यूलियन और शं० के० कानिटकर की विशिष्ट भूमिका का उल्लेख किया। इसी मंडल के प्रमुख कवि यशवंत भोगे हुए कटु अनुभवों और भावगीतों के लिए प्रसिद्ध हैं।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में मानव-धर्म के ह्रास की ओर इंगित करते हुए विद्वान वक्ता ने कहा कि अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाना युग-चेतना की अनिवार्यता है। इसके साथ ही जीवन संघर्ष से उदासीनता की बढ़ती जा रही प्रवृत्ति पर वक्ता ने चिंता व्यक्त की और बताया कि इस निराशा में आशा का स्वर श्री बा० भ० बोरकर की प्रेम और प्रकृति की कविता में मिलता है। मराठी में 'मुक्त छन्द' के प्रणेता विदर्भ के कवि अनिल तथा इसी कोटि में वा० ना० देशपाण्डे, शांता शेलके, इंदिरा संत, माडगूलकर, शांताराम आठवले को भी स्मरण किया गया। नवकाव्य के प्रणेताओं में वक्ता महोदय ने अनिल के अतिरिक्त कुसुमाग्रज, मर्ढेकर, मुक्तिबोध, विंदा करंदीकर जैसे यथार्थवादी कवियों का जिक्र करते हुए कहा कि इनकी कविता में गंध, स्पर्श और रस उनकी अपनी अनुभूत चुभनों और दुःखों से अभिभूत होकर काव्य में अभिव्यक्त होते हैं। दलित-साहित्य के कवियों में उन्होंने राजा ढाले, महानोर, ग्रेस, नारायण सुर्वे आदि को परिगणित किया और मत व्यक्त किया कि यथार्थवाद अपने वीभत्स रूप में अश्लील और जुगुप्सा का भी निर्माण करने लगा है। अपने प्रथम दिन के भाषण के अन्त में उन्होंने भावे के इस मत को स्पष्ट किया कि नवीनता केवल काव्य प्रतिभा और आशय पर नहीं, बल्कि अर्थ की नवीनता पर निर्भर करती है।

दूसरे दिन का भाषण साहित्य की अन्य विधाओं के संबन्ध में था।

भारतीय वाङ्मय में उपन्यास और आधुनिक कहानी का उद्भव पश्चिम के प्रभाव के कारण है, यह मानते हुए श्री जोगलेकर ने मराठी में उपन्यास साहित्य का उल्लेख हरिभाऊ आपटे के मध्यवर्गीय पारिवारिक उपन्यासों से किया। उनके उपन्यासों में यथार्थ के साथ आदर्श का भी आग्रह था। इसी श्रेणी में ना० ह० आपटे, नाथमाधव, ना० वी० कुलकर्णी, वि० सी० गुर्जर, काशीबाई कानेटकर आदि लेखक परिगणित होते हैं। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए। वामन मल्हार जोशी ने तांत्रिक चर्चायुक्त तथा पौराणिक उपन्यास और डा० केतकर ने बोधवादी और सामाजिक समस्या प्रधान कथानक लिखे। प्राध्यापक ना० सी० फड़के ने कला-कला के लिए मत का प्रतिपादन करके मराठी उपन्यास साहित्य को नया मोड़ दिया। सामाजिक सुधार को कथानक का आधार बनाकर पु० य० देशपाण्डे ने उपन्यास लिखे। इसी समय कला जीवन के लिए है मत का आग्रह लेकर वि० स० खाण्डेकर ने उपन्यास-जगत में प्रवेश किया। वे ध्येयवादी लेखक थे १९५९ में प्रकाशित उनके उपन्यास 'ययाति' पर एक लाख रुपए का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया है। र० वा० दिघे के आंचलिक और विश्राम वेडेकर के विश्वयुद्ध की भीषणता प्रस्तुत करनेवाले उपन्यासों का भी मराठी में उचित सम्मान है। राजनैतिक कथानक लेकर लिखनेवाले उपन्यासकारों में ग० त्र्यं० माड़खोलकर, मर्ढेकर, वा० भा० बोरकर, शिरूरकर, श्री० ना० पेंडसे आदि का उल्लेख किया जाता है, उसी तरह टूटते हुए देहातों का चित्र प्रस्तुत करने में गो० नी० दांडेकर सिद्धहस्त हैं। इसी श्रेणी में माडगूलकर, उद्धव शेलके, अण्णाभाऊ साठे आदि का नाम भी लिया जा सकता है। युग बोध का अनुभव करानेवाली अनेक सफल कृतियों का भी वक्ता महोदय ने उल्लेख किया जिनमें बली, धग, माहिमची खाड़ी, चक्र, ऋतुचक्र, कोसला, गीतावली, आनन्दी गोपाल, दुर्दम्य, जैसे समूह मन का चित्रण करनेवाले उपन्यास हैं। मृत्युंजय, राधेय, स्वामी, श्रीमान योगी, मंत्रावेगला जैसे पौराणिक उपन्यासों का भी उन्होंने अतीत का अन्वयार्थ खोजने के प्रसंग में उल्लेख किया।

आधुनिक कहानी के विकास में विद्वान वक्ता ने 'करमणुक' और 'मनोरंजन' पत्रिकाओं के माध्यम से हरिभाऊ आपटे, वी० सी० गुर्जर आदि का विपुल अवदान

स्वीकार किया और बताया कि किस तरह ना० ह० आपटे, सरस्वती कुमार, वा० ना० देशपाण्डे, श्रीपादकृष्ण कोल्हटकर, न० चि० केलकर, वा० म० जोशी, शि० म० परांजपे आदि ने धीरे-धीरे उपदेशपरक कहानी को जीवन की वास्तविकता से ओतप्रोत सामाजिक रूप दिया। इसमें उन्होंने आनन्दी बाई शिर्के, सुवासिनी वामनसुता, गिरिजाबाई केलकर, काशीबाई कानिटकर आदि महिला लेखकों का अवदान भी स्वीकार किया। मराठी के आधुनिक कहानीकारों में बरेरकर, दिवाकर कृष्ण सानेगुरुजी, य० गो० जोशी, चोरघड़े, बोकिल, अनंत काणेकर लक्ष्मणराव सर देसाई, ग० ल० ठोकल, र० वा० दिघे के बहुविध योगदान की चर्चा करते हुए वक्ता ने डा० वर्टी, दौंडकर, पु० के० अत्रे, और ना० धो० ताम्हनकर की हास्य-व्यंग्य रचनाओं की भी प्रशंसा की। आधुनिक कथाकारों में गंगाधर गाडगील, अरविंद गोखले, शांता शेलके, वसुंधरा पटवर्धन, विद्याधर पुण्डलीक, योगिनी जोगलेकर, व्यंकटेश माडगूलकर, शंकर पाटील द० मा० मिरासदार, रणजीत देसाई, आनन्द यादव आदि की रचनाओं का परिचय देते हुए विद्वान वक्ता ने मराठी साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र पर एक विहंगम दृष्टि निक्षिप्त की।

स्वयं सर्जनात्मक साहित्यकारों के अतिरिक्त रा० श्री० जोग, द० के० केलकर, के० नावाटवे, श्री० के० क्षीरसागर, वा० ल० कुलकर्णी, दि० के० वेडेकर, और कुसुमावती देशपाण्डे के समीक्षा-सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए श्री जोगलेकर ने श्री चिपलूणकर की निबन्धमाला की ओर ध्यान आकृष्ट किया। इसी प्रसंग में उन्होंने राजवाड़े, केतकर, आचार्य जावडेकर, विनोवाभावे, काका कालेलकर, आचार्य भागवत आदि की साहित्य विषयक मांगल्य-कारी संकल्पनाओं का महत्व प्रतिपादित किया। इसके साथ ही वा० सी० मर्ढेकर के वाङ्मयीन महात्मता के चतुरांगी सिद्धांत का परिचय देकर वक्ता ने मराठी के समृद्ध कोश साहित्य की ओर ध्यान आकर्षित किया। कोश साहित्य के निर्माण में श्री० व्यं० केतकर से प्रारम्भ करके श्री० म० माटे, म० शा० जोशी, अमरेन्द्र गाडगील, देवीदास दत्तात्रय बाडेकर, तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी आदि के विभिन्न विषयों के कोशों की चर्चा की। इसी प्रसंग में उन्होंने बताया कि कई संस्थाएँ जैसे गोखले इन्स्टीट्यूट, भांडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वैदिक संशोधन मंडल, राजवाड़े संशोधन मंडल, मराठी ग्रन्थ संग्रहालय, रायल एशियाटिक सोसाइटी, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, भारत इतिहास संशोधन मण्डल, पलुस्कर संगीत अकादमी, भारतीय कलोपासक नाट्य संस्था, चरित्र-कोश संस्थान, डकन कालेज भाषाशास्त्रीय संस्था आदि में विभिन्न विषयों में बड़ा महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य चल रहा है, जिस पर किसी भी भाषा को गर्व हो सकता है।

अपने भाषण के बाद डा० जोगलेकर ने अपनी कई स्वनिर्मित कविताओं का पाठ किया जिसे श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया। वक्ता महोदय और आगन्तुक महानुभावों को धन्यवाद के बाद दो दिन का यह साहित्यिक कार्यक्रम समाप्त हुआ।

नागरी लिपि परिषद्

विभिन्न भाषाएँ एक सामान्य लिपि अपना लेती हैं तो वह मानवता की एकता का एक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हो सकती है। भारत में सामान्य लिपि का वह स्थान देवनागरी ले सकती है जो हिन्दी, मराठी, नेपाली, डोगरी, सिंधी और कुछ हद तक उर्दू की लिपि है और जिसमें संस्कृत, पाली, प्राकृत, मागधी आदि कई प्राचीन भाषाओं की पुस्तकें लिखी गई हैं।

भारत की सब भाषाओं की लिपियों में नागरी के ही समान वे ही स्वर और व्यंजन काम आते हैं, स्वर की ध्वनियों के लिए मात्राओं का ही उपयोग होता है और लिपि-संकेत ध्वनि-अनुसारी हैं, इसलिए उन भाषाओं के लिए सहलिपि के रूप में देवनागरी को स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं होगी और इससे सब भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी देवनागरी लिपि बन सकती है।

देश की सब भाषाओं की अपनी-अपनी लिपियों के साथ अतिरिक्त सहलिपि के रूप में नागरी का प्रचलन देश की भावनात्मक एकता और अन्ततः मानव मात्र की सांस्कृतिक निकटता का साधन हो सकता है—इस भावना से पूज्य बिनोबाजी के निर्देशानुसार दिनांक २३ और २४ फरवरी १९७४ को पवनार (वर्धा) में केन्द्रीय गांधी स्मारक निधि ने एक अखिल भारतीय नागरी लिपि संगोष्ठी का आयोजन किया था। इसमें देश के सभी प्रदेशों से भाग लेनेवाले लगभग ६० नागरी-प्रेमी सज्जनों के अलावा अधिकांश ऐसे लोग थे जो बहुत पहले से भी इस काम में सक्रिय रहे हैं।

प्रचलित लिपि के स्थान पर नागरी लिपि को लाने का प्रयत्न पिछले शतक से ही आरम्भ हो चुका था। लेकिन अपनी-अपनी लिपि के प्रेम के कारण उस प्रयत्न को सफलता नहीं मिली। इस समय बिनोबाजी ने नागरी को अतिरिक्त लिपि के रूप में स्वीकार करने का सुझाव दिया तो विरोध की कहीं गुंजाइश नहीं रही। इसलिए सम्मेलन में सबने एक राय से इस विचार का स्वागत और अनुमोदन किया तथा इस दिशा में किये जानेवाले प्रयत्नों में अपने सहयोग का आश्वासन भी दिया।

इस काम को राष्ट्रीय एकता का एक साधन मानकर केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने भी इस सम्मेलन के खर्च के लिए रु० १०,०००/- की सहायता दी।

तदनुसार गठित कार्यान्वियन समिति की कतिपय बैठकों में नागरी लिपि में नये-पुराने भाषा-साहित्यों तथा विधि, कानून आदि का नागरी संस्करण प्रकाशित कराने तथा पूर्वाञ्चलीय लिपि-हीन भाषाओं के लिए नागरी लिपि का स्वीकार कराने के प्रयत्न करने के सुझाव के साथ केन्द्रीय शासन से आवश्यक आर्थिक सहायता प्राप्त करने का भी प्रस्ताव आया। आर्थिक सहायता प्राप्त करने में सुविधा की दृष्टि से नागरी लिपि परिषद अप्रैल ७५ में स्वतंत्र संस्था के रूप में पंजीकृत हुई।

इस बीच प्रत्येक प्रदेश में प्रान्तीय स्तर की नागरी लिपि प्रसार समिति गठित करने में प्रादेशिक गांधी स्मारक निधियों को पहल करने की प्रार्थना की गई। तदनुसार आंध्र गांधी स्मारक निधि के विशेष प्रयास से आन्ध्र में राज्य स्तर की नागरी लिपि परिषद का गठन हुआ।

दिनांक १७ अगस्त ७५ को नई दिल्ली में माननीय उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती के हाथों नागरी लिपि परिषद का उद्घाटन हुआ।

इस परिषद् के ५१ सदस्य होंगे जिन पर परिषद के समस्त कार्य संचालन का दायित्व है। इसकी सदस्यता सीमित है, लेकिन केन्द्रीय और प्रादेशिक स्तर पर अनेक 'सहयोगी मंडल' होंगे जिनके सदस्य, परिषद् के उद्देश्यों को मानने वाले कोई भी रु० ५/- शुल्क देकर बन सकते हैं।

नागरी लिपि परिषद के अध्यक्ष श्री श्रीमन्नारायण हैं और मंत्री श्री देवेन्द्र कुमार। सर्व सम्मति के आधार पर अब तक २७ सदस्य और ८५ सहयोगी सदस्य हुए हैं। परिषद की प्रान्तीय शाखा स्थापित करने की माँग कई राज्यों से आई है। इस प्रकार अधिकाधिक लोगों तक पहुँचने का प्रयास परिषद कर रही है।

परिषद का प्रयास है कि नागरी लिपि में प्रकाशित सभी प्रांतीय व अन्य भाषा साहित्य का संग्रह एक स्थान पर किया जाय। अब तक लगभग २२ भाषाओं की काफी पुस्तकें केन्द्रीय कार्यालय में एकत्रित की गई हैं। विभिन्न स्तर की बैठकों व गोष्ठियों के अलावा नागरी लिपि प्रदर्शनियाँ भी आयोजित की जाती हैं।

परिषद की ओर से ५०-५० पृष्ठों की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ जिनमें प्रत्येक भाषा के प्राचीन और नवीन लोकप्रिय साहित्य की कुछ बानगी तथा नित्य व्यवहारोपयोगी संवाद के कुछ वाक्य नागरी लिपि में हिन्दी अर्थ सहित हों, प्रकाशित करने की योजना है जो सबके हाथ में पहुँच सके ताकि नागरी लिपि की इस रूप में उपयोगिता को सब समझ सकें।

हाल ही में विनोबाजी की प्रेरणा से तथा भारत में चीनी भाषा के अन्यतम विद्वान श्री वसंतराव परांजपे के सहयोग से गाँधी स्मारक निधि ने 'हिन्दी चीनी प्राइमर' प्रकाशित की है जो नागरी लिपि में चीनी भाषा सिखानेवाली सर्वप्रथम पुस्तक है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में चीनी भाषा के प्राध्यापक श्री हरप्रसाद राय इसके लेखक है। नागरी लिपि परिषद द्वारा अब तक प्रकाशित पुस्तकें नीचे लिखे अनुसार हैं :

भाषा इन्डोनेशिया	नागरी में
आधुनिक फारसी	नागरी में
सिंहल स्वयं शिक्षक	नागरी में
हिन्दी चीनी प्राइमर	नागरी में

र० नं० त्रिवेदी

(३२ पृष्ठ का शेषांश)

को चित्रित करती है जो शहरी जीवन के बनावटी सांस्कृतिक वातावरण की धुन्ध में भूलते जा रहे ग्रामांचलों की स्वाभाविक संस्कृति के बोध से उत्पन्न हुई है। पुस्तक के आच्छद पृष्ठ पर दिया हुआ डा० नरेन्द्र देव का यह मत कि वसंताणी का क्षोभ दर्शाता है कि जब पंजाब और बंगाल के उद्वस्त लोगों को कम से कम अपने हिस्से का पंजाब और बंगाल तो मिला है, जब कि सिंधियों को अपने हिस्से का ऐसा कोई भाग नहीं मिला, कहानी की भावना को सीमित ही करता है। संग्रह की अन्य कहानियों में 'लाटरी का टिकिट' और 'चाय की प्याली' मनोविश्लेषण का अच्छा चित्र प्रस्तुत करती है। भाषा पात्रों के अनुकूल, सांकेतिक और प्रवाहमई है। शैली प्रौढ़ और प्रस्तुति ऊर्ध्वग तथा प्रतीकात्मक है। अपने छोटे से कलेवर में कथानक सर्वत्र अपने लक्ष्य की ओर द्रुत वेग से दौड़ता हुआ पाठक को अन्ततक बाँधे रहता है।

(स० ओझा)

समीक्ष्य पुस्तकें : (१) पीली बत्ती पर—ले० डा० मोतीलाल जोतवाणी, प्रकाशक, दिल्ली, राष्ट्र भाषा प्रकाशन १९७७. पृ० १२०, १८ सेमी०. मू० ८.०० ।

(२) कोहरे—ले० दीप्ति खंडेलवाल, प्रकाशक, दिल्ली राजपाल एण्ड सन्स, १९७७. पृ० १०२, १८ सेमी०. मू० ७.००

श्रद्धांजलि

आनन्द स्वामी :

वयोवृद्ध स्वतंत्रता-सेनानी, लेखक और आर्य समाज के नेता महात्मा आनंद स्वामी का २४ अक्टूबर, १९७७ को देहावसान हो गया। वे उर्दू, दैनिक मिलाप के संस्थापक-संपादक थे। उनकी आयु ९६ वर्ष थी। उन्होंने ३० पुस्तकें लिखी हैं। ६५ वर्ष की उम्र में उन्होंने संन्यास लिया था और तब से वे महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती के रूप में जाने जाते थे।

ज्योतिरिन्द्र मैत्र :

नवंबर १९११ में बंगला देश में पबना जिले के शीतलई गाँव में जन्में बंगला के सुप्रसिद्ध कवि, संगीतज्ञ, और गायक श्री ज्योतिरिन्द्र मैत्र का हैदराबाद से कलकत्ता लौटते हुए कोरोमण्डल एक्सप्रेस ट्रेन में ता० २५ अक्टूबर १९७७ को प्रातःकाल हृदयगति रुक जाने से निधन हो गया।—उनका दाहसंस्कार ता० २६ को किया गया।

श्री मैत्र की साम्यवादी आंदोलन में गहरी रुचि थी, अपने मित्र, प्रसिद्ध बंगला कवि विष्णु दे के आग्रह पर साहित्य का अध्ययन करके उन्होंने कविता करना प्रारंभ किया और साथ ही शास्त्रीय संगीत की शिक्षा भी प्राप्त की। सहज ही दोनों विधाओं में वे निष्णात हो गए। वे दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी और भारतीय कला केन्द्र से संबद्ध थे। वहाँ उन्होंने तुलसीदास के रामचरित मानस को नई व्याख्या दी, और सीता चरित्र के अवहेलित तत्त्वों को उजागर करके, रामलीला का सीतायन के रूप में पुनर्निर्माण किया। उन्होंने कई फिल्मों में संगीत निर्देशन भी किया, जिनमें सत्यजित रे की रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर प्रस्तुत डाक्यूमेंटरी भी सम्मिलित है।

वे अपने पीछे दो पुत्र और दो पुत्रियाँ छोड़ गए हैं।

साहू शांति प्रसाद जैन :

उत्तर प्रदेश में बिजनौर जिले के नजीबाबाद में सन् १९११ में जन्मे देश के औद्योगिक और साहित्यिक क्षेत्र में समान रूप से समादृत साहू शांति प्रसाद जैन का गुरुवार २७ अक्टूबर १९७७ को प्रातःकाल १०.११ बजे दिल्ली के सर गंगाराम अस्पताल में दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। वे २१ अक्टूबर ७५ को दिल का दौरा पड़ने पर अस्पताल में भरती किए गए थे। उपयुक्त उपचार से उनकी अवस्था में बीच में कुछ सुधार भी लक्षित हुआ था, किंतु मंगलवार को पुनः उनकी हृदयगति में गिरावट आई, और दो दिन बाद उनका अन्तिम समय आ गया।

साहित्य, संस्कृति और कला के क्षेत्र में अपनी पत्नी स्व० श्रीमती रमा देवी के साथ उनका अवदान अप्रतिम है। भारतीय ज्ञानपीठ और उसके द्वारा प्रवर्त्तित प्रतिवर्ष भारतीय साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थ पर एक लाख रुपए का पुरस्कार उनकी अमर कीर्त्ति का स्मारक है। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके द्वारा स्थापित पत्र पत्रिकाओं ने अपने स्तर को जो विदेशी पत्रिकाओं के स्तर तक उठाया उसका श्रेय भी उन्हीं को है। भारतीय ज्ञानपीठ सर्जनात्मक साहित्य के प्रकाशन और शोध के क्षेत्र में जो श्लाघनीय कार्य कर रहा है, वह भी उन्हींकी सूझ-बूझ का परिणाम है। इधर उनकी जीवन संगिनी श्रीमति रमादेवी के निधन के बाद उनके जीवन में एक रिक्तता आ गई थी, किन्तु साहित्य और संस्कृति के प्रति उनकी स्पृहा कभी कम नहीं हुई।

वे अपने पीछे तीन पुत्र और एक पुत्री छोड़ गए हैं।

निवेदन :

इस अंक के साथ साहित्यांकों के क्रम का संदर्भ भारती का एक वर्ष-चक्र पूरा हो रहा है, जिसमें पाठकों को गुजराती, बंगला, हिन्दी, कन्नड़, मराठी और असमिया साहित्य का परिचय दिया जा चुका है। अवश्य इनसे आपने न केवल मनोरंजन, प्रत्युत ज्ञान-वर्धन और मानसिक-धरातल का विस्तार भी प्राप्त किया होगा, और अवश्य ही आप आगे के अंकों की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे होंगे। अगले चक्र में हम तेलुगु, ओड़िया, सिंधीं, तमिल, पंजाबी, मलयालम आदि भाषाओं का आधुनिक साहित्य प्रस्तुत करेंगे। यदि आप ग्राहक नहीं हैं या यदि आपका वार्षिक शुल्क इस अंक के साथ समाप्त हो रहा है तो कृपया अविलम्ब १२/- का मनी आर्डर नीचे दिए प्रस्ताव पत्र के साथ भेजने का कष्ट करें, ताकि आपकी प्रति सुरक्षित रहे।

व्यवस्थापक
संदर्भ भारती

संदर्भ भारती

(सदस्यता पत्र)

व्यवस्थापक, संदर्भ भारती,
भारतीय भाषा परिषद,
९, कैमक स्ट्रीट,
कलकत्ता-७०००१७

प्रिय महोदय,

भारतीय भाषाओं की समृद्धि व पारस्परिक सहयोग के लिये समर्पित संदर्भ भारती पत्रिका के विकास में सहभागी होना चाहता हूँ। अतएव आप मुझे इस पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बना लें।

वार्षिक शुल्क बारह रुपए (जनवरी-दिसम्बर, सन् १९७८) मनी-आर्डर द्वारा भिजवा रहा हूँ / पत्रिका कृपया वी० पी० पी० से भिजवा दें।

आवेदक का हस्ताक्षर

नाम ....

कार्यक्षेत्र ....

पता ....

....

(मनी आर्डर भेजने से वी० पी० पी० का व्यर्थ व्यय बच जाएगा)।

भारतवर्ष के विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच एक

सहज सेतु-निर्माण और

भावनात्मक एकता तथा सांस्कृतिक अभिन्नता

को चरितार्थ करने के उद्देश्य से

पढ़िए

भारतीय भाषा परिषद् की

द्वैमासिक पत्रिका

संदर्भ भारती

सर्वत्र विद्वानों द्वारा प्रशंसित,

प्रत्येक अंक में

देश की किसी एक भाषा के स्वातंत्र्योत्तर-कालीन साहित्य की

प्रमुख प्रवृत्तियों का स-विवेचन दिग्दर्शन,

प्रत्येक अंक उसी भाषा के विद्वान् द्वारा सम्पादित,

शिक्षण-संस्थाओं, साहित्यकारों और साहित्यप्रेमियों के लिए समान उपयोगी

अबतक **गुजराती, बंगला, हिन्दी, कन्नड़** और **मराठी** के

साहित्यांक प्रकाशित हो चुके हैं।

वार्षिक मूल्य १२) मात्र प्रत्येक अंक २)

आज ही आदेश भेजिए

व्यवस्थापक : संदर्भ भारती

भारतीय भाषा परिषद, ९, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००१७

पंजीयन—आर० एन० २७१४६/७५

भारतीय भाषा परिषद

भारतीय भाषा परिषद, ६, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-१७
के लिये श्री परमानन्द चूड़ीवाल द्वारा प्रकाशित एवं
एसकेज, ८, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट, कलकत्ता-७० से मुद्रित